मन की साधना

:लेखक:
पं० रूपचन्द्र 'दीपक'
राष्ट्र भाषा रत्न
एम०एस-सी० (गणित); एम० ए० (दर्शन शास्त्र);
बी०एड०; 'वेद भूषण'

:प्रकाशक:
विश्व वेद परिषद्, लखनऊ
(भारत)

पुस्तक का प्रकाशन
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की प्रकाशन अनुदान योजना के अन्तर्गत
किया गया है।

संस्करण २००२

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्राप्ति स्थान :
विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली—११० ००६, भारत
दूरभाष : ३६१४६४५, ३६७७२१६, फैक्स: ३६११०५७
ई—मेल : ajayarya@vsnl.com, Web: www.vedicbooks.com

शब्द संयोजन:
पेन्टेल इन्फोमेटिक्स
जानकीपुरम, लखनऊ।
फोन: ०५२२—७३२२१८
ई—मेल:
pentel_raj@yahoo.com

मुद्रक:
लखनऊ क्लासिफाइड्स
सी—३४, ई—पार्क, महानगर विस्तार,
लखनऊ। फोन: ०५२२—३३६४६६
ajay_pratapsingh1@yahoo.com

मूल्य : ६० रुपये U.S. $3

लेखक द्वारा रचित पुस्तकें

	मूल्य (रुपये)
१. वेद–प्रकाश	३०.००
२. Five Great Duties	४०.००
३. पर्व–विज्ञान	३०.००
४. क्रान्ति और शान्ति के आठ दिव्य सूत्र	१००.००
५. सत्यमेव जयते (ट्रैक्ट)	२.००
६. बुद्धिजीवियों का कर्त्तव्य (ट्रैक्ट)	२.००
७. मन की साधना	६०.००

प्रकाशनाधीन

८. God, Soul & the Matter

९. Vedic Lights

१०. ईशावास्यम्

११. कर्त्तव्य–पथ

१२. 8 Rays of Light & Delight

प्रतिबोधविदितम्	२७	याममध्ये न	६१
प्रातरग्निम्	५	युक्ताहारविहारस्य	५६
प्रातर्जितम्	५	युगपज्ज्ञान	१३
प्रारभ्यते न	१०	येन कर्माण्यपसो	१, १६
ब्राह्मे मुहूर्त्ते	५७	येनेदं भूतम्	१, ३५
भग एव	७	योगः कर्मसु	६६
भग प्रणेतर्भग	६	योगश्चित्त	६६
मन्त्रमूलो	५३	योगाङ्गानुष्ठानाद्	६५
मात्रा प्रमाणम्	६१	वसुधैव	८१
मा भ्राता	४६	विद्वान्	८२
मित भोजनम्	६१	विद्वांसो	८२
मित्रस्य चक्षुषा	५३	वेदोऽखिलो	४६
मुक्तिमिच्छसि	२१	व्रतेन दीक्षामाप्नोति	६
मूर्धानमस्य	३३	शत्रोरपि	६३
मैत्रीकरुणा	४०	शौचसन्तोष	६८
यजदेवपूजा	३६	शौचं मृज्जलादि	६८
यज्जाग्रतो	१, १२	श्रुत्वा स्पृष्ट्वा	५०
यज्ञो वै	२४, ८०	सङ्कल्पो वाव	६
यतोऽभ्युदय	१८	संगच्छध्वम्	४८
यत्प्रज्ञानमुत	१, २७	सर्वे वेदा	३३
यथाह्येकेन	२०	सर्वेषामेव	८८
यथेमां वाचम्	४६	सुखस्य मूलम्	१७
यदा संहरते	८७	सुखस्यानन्तरम्	४१
यन्मनसा	८	सुषारथिरश्वानिव	१, ४६
यमनियम	६७	स्वाध्यायाद्	८०
यस्मिन्नृचः	१, ४२	स्वाध्यायादयोगम्	१०२

सन्दर्भ अनुक्रमणिका

पद	पृष्ठ	पद	पृष्ठ
अग्निमीडे	४५	क्रोधाद्भवति	२१
अग्ने व्रतपते	११	क्षीरघृताभ्यासो	६०
अति भारः	५८	क्षुरस्य धारा	३६
अति सर्वत्र	५७	चित्तं वाव	३०
अथ त्रिविध	४१	जातिदेश	६७
अद्भिर्गात्राणि	८६	ततः क्षीयते	६५
अनुव्रतः पितुः	४६	तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो	३४
अभावप्रत्यय	१५	तत्र प्रत्यय	१०१
अभिवादनशीलस्य	८३	तदेवार्थमात्र	१०२
अभ्यासवैराग्याभ्याम्	५१	तरति शोकम्	१०३
अवन्ध्यं दिवसम्	५८	त्रय उपस्तम्भा	५८
असतो मा	५५	त्रयो धर्मस्कन्धा	२६
अहिंसा सत्य	६७	धर्मार्थकाममोक्षाणाम्	६३
अहिंसा सर्वथा	६७	धृतिः क्षमा	२६
आत्मज्ञानम्	२६	ध्यानम्	१०१
आत्मानं रथिनम्	४६	ध्यायतो विषयान्	२१
आयुः कर्म	१६	न जातु कामः	२१
इज्याध्ययनदानानि	३३	न तस्य	४५
उतेदानीम्	६	न दैवमपि	२०
उत्कर्षादपि	४०	न वेदबाह्यो	४६
उप त्वाग्ने	४६	नास्तिको	४७
एको वशी	६०	नित्योऽनित्यानाम्	६०
काले तपः	३५	परित्राणाय	२४
काले मनः	३५	पूजयेदशनम्	६१
कालो अश्वो	३५	प्रज्ञापराधो	६३
		प्रज्ञाप्रसादम्	१०३

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति।।[100]

स्वाध्याय से योगाभ्यास, पुनः स्वाध्याय और योगाभ्यास करते रहने से परमात्मा का प्रकाश और आनन्द प्राप्त होता है। अध्यात्म प्रसाद की उक्त अवस्था को प्राप्त करके योगी शोकयुक्त अयोगी मनुष्यों को ऐसे देखता है जैसे पर्वत पर स्थित मनुष्य भूमि पर स्थित व्यक्तियों को देख रहा हो।

जैसे जल के संग्रह हेतु पात्र का छिद्रमुक्त होना आवश्यक है, उसी प्रकार धर्म, विद्या और शान्ति के सञ्चय हेतु मन का छिद्ररहित होना आवश्यक है। धन कमाने, पुस्तक पढ़ने, तर्क करने, युद्ध जीतने अथवा लम्बी आयु पाने मात्र से शान्ति नहीं मिलती। शान्ति के प्रयास त्रिविध हैं– व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक। **संयम से व्यक्तिगत योग्यता, सेवा से सामाजिक कर्त्तव्य–पालन और ईशसमर्पण से आध्यात्मिक रस की प्राप्ति होती है। तीनों के योग से शान्ति में अखण्डता एवं पूर्णता आती है।**

शान्ति का वास विवेक में है; विवेक का विकास आत्मज्ञान से है; आत्मज्ञान का आधार आत्म–संयम है। इस प्रकार संयम से साधना का प्रारम्भ होता है; उत्थान के उपाय साधना को परिपक्व करते हैं; साधना का फल है शान्ति। उपनिषद् समझाता है– **तरति शोकमात्मवित्**[101] अर्थात् आत्मज्ञानी शोक को पार कर लेता है। इसी शोक से मुक्ति और शान्ति की प्राप्ति में संसार सदा से लगा रहा है। किन्तु इसकी प्राप्ति मन की कामना मात्र से नहीं होती, अपितु इसके लिए आवश्यक है– **मन की साधना।**

---

१००. योग दर्शन (पाद–१, सूत्र–४७) व्यास भाष्य।
१०१. छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक–७, खण्ड–१, श्लोक–३)।

सकते हैं। किन्तु ध्यान तक प्रतिदिन पहुँचा जा सकता है।

समाधि–

ध्यान की प्रगाढ़ता ही समाधि है। यह पूर्व–प्रयासों का फल और स्वयमेव निष्प्रयास है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।।[६८] अर्थात् ध्यान को आगे बढ़ाकर अपना भान भुला देना समाधि है। ध्यान करते समय उपासक को अपना बोध बना रहता है। किन्तु जब अपना बोध भी न रहे, केवल ईश्वर के आनन्द की ही प्राप्ति हो और साधक उसी में पूरी तरह एवं देर तक खोया रहे, तब समाधि कहलाती है। उदाहरणार्थ ईश्वर की सर्वव्यापकता के ध्यान को लें। जब तक उपासक सोच रहा है कि 'मैं' ध्यान कर रहा हूँ, मैं 'सर्वव्यापकता' का ध्यान कर रहा हूँ, मैं 'ईश्वर' का ध्यान कर रहा हूँ, तब तक यह 'ध्यान' है। जब वह अपने को भूल जाए, सर्वव्यापकता के विषय विशेष को भी भूल जाए, बस ईश्वर के ध्यान में पूरी तरह खोकर उसी में डूब जाए एवं आनन्दमग्न हो जाए, तब उपासक 'ध्यान' से आगे बढ़कर 'समाधि' के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। यह अवस्था कई घण्टों तक बनी रह सकती है। किन्तु सीमित क्षमता के कारण शरीर एक ओर को तिरछा हो जाए; अथवा गर्मी, सर्दी, वर्षा वा वायु के प्रभाव से शरीर हिल जाए, अथवा निद्रा आने से गरदन झुक जाए तो समाधि भंग हो जाती है। जीवन की अवस्था में ईश्वर के साथ सर्वाधिक निकटता समाधि में ही प्राप्त होती है। इसी को ईश्वर का साक्षात्कार करना कहते हैं।

परमात्मा का प्रकाश पाने हेतु आस्थापूर्वक वेदाभ्यास और योगाभ्यास अपेक्षित हैं:–

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।[६९]

६८. योग दर्शन (पाद–३, सूत्र–३)।

६९. योग दर्शन (पाद–१, सूत्र–२८) व्यास भाष्य।

धारणा–

धारणा का तात्पर्य है किसी एक स्थान पर मन को टिका देना। मन को नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका वा जीभ के अग्रभाग में स्थिर करना उचित है अथवा पाँच विषयों में से किसी पर केन्द्रित किया जा सकता है। जैसे पाँच द्वारों वाले कक्ष में प्रवेश करने के लिए किसी द्वार का उपयोग किया जा सकता है, इसी प्रकार धारणा के लिए शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध में से किसी का भी सहारा लिया जा सकता है। किन्तु प्रारम्भिक सहायता लेकर बाद में इन्हें भी छोड़कर ईश्वर के ध्यान की ओर बढ़ना होता है। धारणा 'की जाती है'; ध्यान 'हो जाता है'।

ध्यान–

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।।[६६]

अर्थात् धारणा की अखण्डता ध्यान है।

सामान्यतः चित्त कुछ संस्कारों, वासनाओं और स्मृतियों को उभारता रहता है। अहङ्कार आत्मतोष के लिए भिन्न–भिन्न अपेक्षायें करता रहता है। बुद्धि कभी इन्हीं विषयों पर और कभी कुछ अन्य विचार करती रहती है। मन में पृथक् सङ्कल्प–विकल्प होते रहते हैं। इससे अन्तःकरण में बिखराव, चञ्चलता और व्यग्रता की अवस्था रहती है। किसी बिन्दु पर धारणा की जाए तो वह टूटती रहती है। यदि अन्तःकरण के चारों तत्त्वों अर्थात् मन–बुद्धि–चित्त–अहङ्कार को एक विषय पर लगा लिया जाए तो धारणा अखण्ड बनी रहती और ध्यान शीघ्र सिद्ध हो जाता है।

ध्यानं निर्विषयं मनः।।[६७]

अन्तःकरण के एकनिष्ठ होने पर मन विषयों में नहीं भटकता और निर्विषय होकर सबके आश्रय ईश्वर में ठहर जाता है। यही ध्यान की अवस्था है। ध्यान प्रतिदिन करना चाहिए और देर तक करना चाहिए। इससे ज्ञान और शान्ति की प्राप्ति होती है। समाधि का प्रतिदिन लगना एक दुष्कर कार्य है। केवल योगी और उच्च कोटि के साधक ही ऐसा कर

६६. योग दर्शन (पाद–३, सूत्र–२)।

६७. सांख्य दर्शन (अध्याय–६, सूत्र–२५)।

(४) महाबन्ध अर्थात् उपर्युक्त तीनों बन्धों को एक साथ लगाना। इससे प्राण को जहाँ का तहाँ ठहराना सम्भव होता है।

सामान्य व्यक्ति बिना कोई बन्ध लगाये दीर्घ प्रश्वास छोड़ने और दीर्घ श्वास लेने का अभ्यास निर्भीक होकर प्रतिदिन करें। इससे अनेक लाभ हैं और हानि कोई नहीं।

विशेष लाभ चाहने वाले अभ्यासी बाह्यविषय और आभ्यन्तरविषय प्राणायाम बारी–बारी से करें अर्थात् पहले प्रश्वास बाहर निकालें; मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध लगाकर श्वास को बाहर रोके रखें अर्थात् बाह्य कुम्भक करें; धीरे–धीरे भीतर श्वास लें; मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध लगाकर श्वास को भीतर रोके रखें अर्थात् अन्तः कुम्भक करें; यह एक चक्र हुआ; क्षमता एवं इच्छानुसार ३, ५ वा अधिक चक्र बनायें। किन्तु उच्च रक्तचाप वाले अन्तः कुम्भक न करें; बाह्य कुम्भक करें। निम्न रक्तचाप वाले अन्तः कुम्भक करें; बाह्य कुम्भक न करें। प्राणायाम के समय न तो पेट भरा हो, न तीव्र भूख हो; न पानी पिया हो, न तीव्र प्यास हो; क्रोध, तनाव वा रोग न हो। शरीर सामान्य और मन शान्त हो।

स्तम्भवृत्ति और बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी प्राणायामों का अभ्यास केवल योगियों और उत्तम अभ्यासियों के लिए है। श्रद्धापूर्वक और क्षमतानुसार नियमित प्राणायाम करने से प्राण वश में होकर मन भी वश में होता, बुद्धि तीक्ष्ण होती और चित्त एकाग्र होता है।

प्रत्याहार–

प्रत्याहार कोई पृथक् क्रिया नहीं, वरन् मन के संयम की अवस्था है। यह (प्रति+आहार) आहार का उलटा है। आहार में इन्द्रियाँ अपने–अपने रसों की प्राप्ति करती हैं और मन भी वहीं लगा रहता है। प्रत्याहार वह अवस्था है जब मन अन्तर्मुखी होकर वश में हो जाए, इन्द्रियाँ अपने रसों के प्रति आकृष्ट न रहकर उदासीन हो जाएँ और इन्द्रिय–जय की स्थिति प्राप्त हो जाए। इसके पश्चात् साधक को आत्म–बल प्राप्त होता है और डगमगाने का भय नहीं रहता।

सम और तनाव–मुक्त रखनी चाहिए।

(ख) ध्यान के आसन, जिनमें आधा घण्टा, एक घण्टा वा क्षमतानुसार ३–४ घण्टे बिना हिले–डुले एक आसन में निश्चल बैठे रह सकें। इसके लिए पद्मासन सर्वोत्तम है। पद्मासन न लग सके तो वज्रासन वा सुखासन में भी बैठ सकते हैं।

(ग) व्यायाम के आसन, जिनसे शरीर का बल बढ़े, तनाव घटे, हल्कापन रहे और आरोग्य की वृद्धि हो।

प्राणायाम–

प्राणायाम घोड़े की भाँति है जो गन्तव्य पर शीघ्र पहुँचाता है; किन्तु गलत एड़ लग जाए तो गिरा भी देता है। अतः प्राणायाम सावधानीपूर्वक अपने बल–अबल का ध्यान रखकर करना चाहिए।

प्राणायाम चार प्रकार के होते हैं–(१) बाह्यविषय अर्थात् श्वास निकालकर बाहर रोके रखना; इसे बाह्य कुम्भक भी कहते हैं। (२) आभ्यन्तर विषय अर्थात् श्वास भीतर भरकर भीतर रोके रखना; इसे अन्तः कुम्भक भी कहते हैं। (३) स्तम्भवृत्ति अर्थात् प्राण को न बाहर निकालना और न भीतर आने देना, जहाँ का तहाँ रोक देना। (४) बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उसे न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर को खींचना और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर को बल लगाकर रोकना।

प्राणायाम के समय निम्नलिखित बन्ध लगाने से विशेष सफलता मिलती है:–

(१) मूलबन्ध अर्थात् मलद्वार का भीतर और ऊपर की ओर सङ्कोच करना। इससे प्राण ठहरा रहता है।

(२) उड्डियान बन्ध अर्थात् पेट को भीतर की ओर खींचना। इससे प्राण का भीतर न प्रवेश करना सम्भव होता है।

(३) जालन्धर बन्ध अर्थात् गरदन को आगे झुकाकर ठोड़ी को कण्ठ में लगाना। इससे भीतर भरा प्राण मस्तक पर धक्का नहीं मारता।

तात्पर्य है– संग्रह का त्याग करना; पदार्थों की प्राप्ति, रक्षा, हानि, आसक्ति और उनके लिए अन्य प्राणियों को होने वाली पीड़ा में दोष है, अतः संग्रह करना कर्त्तव्य नहीं है।

नियम–

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।

शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। सन्तोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनम्। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।[६५]

नियम मनुष्य के व्यक्तिगत आचार के सूत्र हैं। ये भी पाँच हैं:– (१) शौच अर्थात् तन, मन और धन की पवित्रता; (२) सन्तोष अर्थात् आलस्य न करना अपितु पूर्ण पुरुषार्थ करके जो कुछ प्राप्त हो उसमें सुखी–शान्त रहना; (३) तप अर्थात् सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, हानि–लाभ, मान–अपमान आदि सहते हुए शान्तिपूर्वक सत्य का पालन, न्याय का आचरण और कर्त्तव्य का निर्वहन करते रहना; (४) स्वाध्याय अर्थात् उत्तम ग्रन्थों का प्रतिदिन अध्ययन, अन्तःकरण का नियमित निरीक्षण और प्रभुनाम का यथासम्भव जाप करना; और (५) ईश्वर प्रणिधान अर्थात् सब कर्म ईश्वर को अर्पित करते रहना।

पाँच यम और पाँच नियम, साधक के पाँच–पाँच अँगुलियों वाले दो पैरों की भाँति अर्थात् साधना के आधार हैं। इनका पालन किये बिना जीवन का सम्यक् विकास नहीं हो सकता और पालन करने से श्रेष्ठता के सूत्र प्राप्त होते जाते हैं।

आसन–

आसन तीन प्रकार के होते हैं:–

(क) सामान्य आसन अर्थात् शरीर की सामान्य स्थिति। बैठते, चलते, पढ़ते, भोजन करते, काम करते वा सोते समय शरीर की स्थिति सीधी,

६५. योग दर्शन (पाद–२, सूत्र–३२) व्यास भाष्य सहित।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।।[62]

योग के आठ अंग हैं:– (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, और (८) समाधि।

यम–

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।।

अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथादृष्टं यथाऽनुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।[63]

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।।[64]

यम पाँच हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये सब मनुष्यों के द्वारा पालनीय सार्वभौम सिद्धान्त हैं। अहिंसा से तात्पर्य है–कभी किसी प्राणी के प्रति थोड़ा भी द्रोह न रखना अर्थात् हिंसा और वैर की भावनाओं का त्याग करके सभी प्राणियों के प्रति प्रेम की भावना रखना। सत्य से तात्पर्य है– जो देखा, सुना और मन में समझा हो, वही वाणी पर लाना। निष्प्रयोजन, ठगने वाली भाषा, अर्द्धसत्य और भाव–भंगिमा से छलना भी असत्य होता है; अतः मन में सब प्रकार से परीक्षा और चिन्तन–मनन करके सब प्राणियों के हित में सदा सत्य ही बोलें। अस्तेय से तात्पर्य है–चोरी के भाव का सर्वथा त्याग करना और तृष्णा से बचना। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है– मन और इन्द्रियों पर संयम रखना। अपरिग्रह से

---

६२. योग दर्शन (पाद–२, सूत्र–२९)।

६३. योग दर्शन (पाद–२, सूत्र–३०) व्यासभाष्य सहित।

६४. योग दर्शन (पाद–२, सूत्र–३१)।

परकाया प्रवेश नहीं होता

परकाया प्रवेश से तात्पर्य है अपने आत्मा को अपने शरीर से निकालकर किसी अन्य शरीर में प्रविष्ट कर देना और पुनः अपने शरीर में वापस कर लेना। अनेक सम्प्रदायों की मान्यता है कि पूर्ण योगी परकाया प्रवेश कर सकता है। किन्तु यह मान्यता अवैज्ञानिक और मिथ्या है।

अपने शरीर से जीवात्मा को स्वेच्छापूर्वक निकालना सरल नहीं किन्तु योगी व्यक्ति ऐसा कर सकता है। जीवात्मा को किसी अन्य शरीर में प्रविष्ट करना योगी के लिए भी सम्भव नहीं है। परकाया प्रवेश न कर सकना योग का कच्चापन नहीं अपितु परकाया प्रवेश एक असम्भव कल्पना है।

परकाया प्रवेश के लिए चार चरण आवश्यक हैं:– (१) अपने शरीर से बाहर निकलना; (२) दूसरे शरीर में प्रवेश करना; (३) दूसरे शरीर से बाहर आना; (४) पहले शरीर में प्रवेश करना। इनमें से केवल प्रथम चरण योगसिद्ध है। अन्य चरण असम्भव हैं। योग के अभ्यासी को कल्पनाओं में बहना उचित नहीं अपितु अष्टाङ्ग योग मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

अष्टाङ्ग योग

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।[६०]

योगः कर्मसु कौशलम् ।[६१]

चित्त की वृत्तियों को रोकना समाधि है। समाधि की प्राप्ति हेतु प्रारम्भ से अन्त तक जो आठ सोपानयुक्त कार्य–प्रणाली है, वह योग कहलाती है। विभिन्न श्रेष्ठ कर्मों में दक्षता प्राप्त करना भी योग है। **योग से तात्पर्य है कि जब मन अन्तर्मुखी हो, तब ध्यानपूर्वक समाधि की सिद्धि हो; जब मन बहिर्मुखी हो, तब दक्षतापूर्वक कर्म करते हुए सफलता की प्राप्ति हो।**

---

६०. योग दर्शन (पाद–१, सूत्र–२)।

६१. गीता (अध्याय–२, श्लोक–५०)।

युक्त रहता है।

वस्तुतः अष्टाङ्ग योग के मार्ग पर चलते हुए साधक को अनेक प्रकार की शारीरिक, बौद्धिक और अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ होती हैं। इनका प्रारम्भ वैसे तो यम–नियम से ही हो जाता है किन्तु स्पष्ट अभिव्यक्ति उसके बाद होती है। नियमपूर्वक आसन करते रहने से सम्पूर्ण शरीर में लयबद्धता आ जाती है। प्राणायाम द्वारा उत्पन्न तेज से विद्युत् तरंगों जैसी अनुभूति होती है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर मन भीतर ही आनन्द खोजता है और उसे पाता भी रहता है। धारणा, ध्यान और समाधि सिद्ध होने पर अन्तः प्रकाश की प्राप्ति होती है जिसे दिव्य प्रकाश भी कहा जाता है। इस दौरान बुद्धि की सीमा से आगे बढ़कर ईश–प्रेरणा की प्राप्ति होने लगती है और योगी कुछ सीमा तक दूसरों के मन की बातें तथा देखने–सुनने में न आयी बातों को भी यदा–कदा जान लेता है। किन्तु यह तभी होता है जब मन योगयुक्त अवस्था में हो और ऐसा प्रायः सभी साधकों के साथ होता है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।।[८८] अर्थात् प्राणायाम पूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान को ढकने वाला अज्ञान नित्य प्रति नष्ट होता जाता और ज्ञान का प्रकाश धीरे–धीरे बढ़ता जाता है। **योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।।**[८९] अर्थात् योग के आठ अंगों के अभ्यास से अविद्या आदि दोषों का क्षय होकर मोक्ष–प्राप्ति तक जीवात्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

योग एक वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि से शक्ति, शान्ति और दिव्य तेज की कर्मानुरूप मात्रा में प्राप्ति होती है। **किन्तु कुण्डलिनी जागरण का सिद्धान्त मिथ्या है। कुण्डलिनी के वर्णन में आयी बातें काल्पनिक हैं जो वास्तविक अनुभव में नहीं आतीं।** अष्टाङ्ग योग के वैज्ञानिक फल वास्तविक हैं, किन्तु कुण्डलिनी के वर्णन में इन्हें जोड़ना बेईमानी है।

८८, ८९. योग दर्शन (पाद–२, सूत्र–५२, २८)।

जल पर चलना

कहा जाता है कि योगी लोग जल पर चलते और वायु में तैरते हैं। इसके अतिरिक्त भी भिन्न–भिन्न चमत्कारों की कथायें समाज में प्रचलित हैं। किन्तु ये समस्त धारणायें मिथ्या हैं। **यदि योगियों में ऐसी क्षमता है तो वे दस्युओं, अपराधियों और शत्रुओं के विरुद्ध पुलिस एवं सेना को सहायता क्यों नहीं देते?** योगी का तो लक्षण है कि वह सबका हितैषी और ईशभक्त होता है। फिर कोई संकट से पार लगाने को आगे क्यों नहीं आता?

वस्तुतः चमत्कार मिथ्या होते हैं। सीधे–सादे लोगों को ठगने वाले व्यक्ति इस प्रकार के नाटक करते हैं। योग मनुष्य को ज्ञान, गुण, शान्ति आदि की अपार निधियाँ देता है। किन्तु जल पर चलने और वायु में तैरने विषयक कथायें मिथ्या हैं।

कुण्डलिनी जागरण की कल्पना

कुण्डलिनी जागरण भी मिथ्या कल्पना है। वेद, योगदर्शन अथवा किसी अन्य दार्शनिक ग्रन्थ में कुण्डलिनी का कोई उल्लेख नहीं है। हठयोग और तन्त्र के जिन ग्रन्थों में इसका उल्लेख है, वे प्रामाणिक नहीं माने गये हैं। उनमें कहा गया है कि रीढ़ की हड्डी के निचले भाग में तीन नाड़ियाँ होती हैं–इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा। इड़ा और पिंगला सक्रिय रहती हैं जिससे मनुष्य की बुद्धि सांसारिक बनी रहती है। सुषुम्णा सुषुप्त अवस्था में रहती है जिसके नीचे मूलाधार में सर्प–आकृति की कुण्डलिनी वर्तुलाकार नीचे मुख किये रहती है। प्राणायाम करने से इड़ा–पिंगला निष्क्रिय और सुषुम्णा सक्रिय हो जाती है। अग्रतर योग–साधना और गुरु–कृपा से कुण्डलिनी जाग्रत अवस्था में आकर उच्चतर चक्रों में प्रवेश करने लगती है। कुण्डलिनी जागरण से पूर्व योगी जितने समय योग साधना करता, उतने ही समय योगयुक्त अवस्था में रहता है। कुण्डलिनी जागरण के पश्चात् वह योग–साधना न करते समय भी योगयुक्त अवस्था में रहता हुआ दिव्य प्रकाश एवं दिव्य बल से

लेते हैं। वस्तुतः विद्या हो अथवा धर्म, मनुष्य को पहले जानना चाहिए और जानकर जो सत्य निकले उसे मानना चाहिए। बहुधा लोग बिना विचार किये कुछ मान लेते हैं और तत्पश्चात् उसी को बुद्धि से सिद्ध करने में लग जाते हैं।

अष्ट सिद्धियाँ

एक मान्यता यह है कि योगी व्यक्ति निम्नलिखित आठ सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है:–

१. **अणिमा–** अणु के समान सूक्ष्म हो जाना अर्थात् शरीर को छोटा कर लेना।

२. **महिमा–** महान्, बड़ा हो जाना अर्थात् शरीर का विस्तार कर लेना।

३. **लघिमा–** लघु (हल्का) हो जाना अर्थात् शरीर के भार को बहुत कम कर लेना।

४. **प्राप्ति–** अल्पकाल में बाह्य साधन के बिना यथेच्छ स्थान पर जाना तथा अंगुली से चन्द्रमा को स्पर्श करना।

५. **प्राकाम्य–** इच्छा का पूर्ण होना, इच्छा में रुकावट न आना। जल की तरह भूमि में डुबकी लगाना।

६. **वशित्व–** भूत, प्राणी और सभी भौतिक पदार्थों का योगी के वश में हो जाना तथा स्वयं किसी के वश में न होना।

७. **ईशत्व–** भूत एवं भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति–विनाश का सामर्थ्य होना।

८. **यत्रकामावसायित्व–** सत्य संकल्पों का होना, संकल्प के अनुसार भूत और प्रकृति का रहना।

वास्तविकता यह है कि योगाभ्यास से योगी का मन पवित्र और बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है। वह अन्तःदर्शी और दूरदर्शी हो जाता है। ये क्षमतायें उसके अन्तःकरण में घटती हैं। शरीर में उक्त आठ सिद्धियों का होना असम्भव है।

अमूल्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु आँखों से ईश्वर का दर्शन होना तो असम्भव है; अतः कभी कोई नहीं कर सकता।

ईश्वर अवतार नहीं लेता

ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक और नित्य मुक्त है। वह शरीर धारण नहीं कर सकता। यदि उसके शरीर की कल्पना करें तो सर्वव्यापक ईश्वर का शरीर भी सर्वव्यापक होगा। उसे बनाने हेतु पर्याप्त मिट्टी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी नहीं मिलेगी। दूसरे, जो सर्वव्यापक है, वह शरीर कैसा? शरीर धारण करने के लिए सीमित होना तथा परिवर्तन में आना अनिवार्य है। जो सीमित और परिवर्तनशील हो, वह ईश्वर कैसा?

वस्तुतः ईश्वर शरीर धारण नहीं करता। इसलिए उसका अवतार भी नहीं होता। महापुरुषों को ईश्वर का अवतार बताना उचित नहीं है। जिन मनुष्यों ने मनुष्यों से जन्म लिया, मनुष्यों से शिक्षा पायी और मनुष्य की भाँति देह त्यागी, वे भले ही महान् तपस्वी और सत्पुरुष हों, मनुष्य ही तो हुए, अवतार नहीं। तथाकथित धर्मगुरुओं की लीला बड़ी विचित्र है। ये बड़ी अनूठी और असम्भव घोषणायें कर देते हैं और भोली–भाली जनता उन्हें सत्य मान लेती है। भला जो मान्यतायें मनुष्य, पक्षी, बन्दर, सर्प, नदी और पत्थर में ईश्वरता स्वीकार कर लें, वे मान्य कैसे हो सकती हैं!

जीव में ईश्वरता

कुछ सम्प्रदाय मानते हैं कि जीव अपने को पवित्र और तपस्वी बनाकर एक दिन ईश्वर हो जाता है। यह मान्यता झूठी है। जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्त और एकदेशी है। वह तपस्या और साधना करके विद्वान्, शक्तिमान् और कीत्तिवान् तो हो सकता है किन्तु कभी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक नहीं हो सकता।

चतुर मनुष्य तो धर्म और दर्शन को मखौल बना डालते हैं। सैकड़ों धर्मगुरुओं को स्वयं उनके अथवा शिष्यों के द्वारा ईश्वर घोषित कर दिया गया है। जनता भी विचित्र है कि लाखों लोग इन बातों को सत्य मान

गणना करना सरल नहीं है। तथापि कुछ भ्रान्तियाँ निम्नवत् हैं:–

सब कुछ ईश्वर नहीं करता

कुछ लोग मानते हैं कि संसार में जो कुछ होता है, वह सब ईश्वर ही करता है; यह एक मिथ्या धारणा है। सत्य की खोज हेतु कृषि करते कृषकों, श्रम करते श्रमिकों, रोटी बनाते रसोइयों, भार ढोते कुलियों, दवा देते चिकित्सकों, बहस करते वकीलों, सर्वेक्षण करते इञ्जीनियरों, प्रयोग करते वैज्ञानिकों, युद्ध करते सैनिकों, खुदाई करते खनिकों, निर्माण करते राजगीरों, वस्त्र धोते धोबियों और लकड़ी छीलते बढ़इयों को देखें। ये कार्य कौन कर रहा है– ईश्वर अथवा मनुष्य? गाली देने, जेब काटने, हत्या करने, धोखा देने और अपहरण के कार्य मनुष्य ही कर रहा है न? भारत–पाकिस्तान का विभाजन, ईरान–इराक का युद्ध, इस्राइल–फिलिस्तीन संघर्ष और अमेरिका का अफगानिस्तान पर आक्रमण मनुष्य के ही कार्य हैं न? फिर सब कार्यों का कर्त्ता ईश्वर कैसे?

वस्तुतः कुछ कार्य ईश्वर करता है और कुछ मनुष्य। सृष्टि रचना, प्रलय करना, जीवों को कर्मों के फल देना, मनुष्यों के अन्तःकरण में धर्म की प्रेरणा देना, वायु–जल–पृथ्वी–प्रकाश–उष्मादि की व्यवस्था करना ईश्वर के कर्म हैं। इन्हें ईश्वर करता है; मनुष्य नहीं कर सकता। अन्य गिनाये गये कर्म मनुष्य के हैं; इन्हें ईश्वर नहीं करता।

ईश्वर का आँखों से दर्शन नहीं

अनेक भक्तों की कथायें सुनने में आती हैं कि उन्होंने ईश्वर की भक्ति की; ईश्वर ने दर्शन दिये; उन्होंने ईश्वर से वरदान माँगा, इत्यादि। ये सब कल्पित बातें हैं। आँखों से तो स्थूल पदार्थ दिखायी देते हैं। **वायु जैसा भौतिक पदार्थ भी आँखों से नहीं दिखायी देता। फिर वायु से सूक्ष्म आकाश, उससे सूक्ष्म मन, उससे सूक्ष्म जीवात्मा और जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमात्मा आँखों से कैसे दिखायी दे सकता है?**

भक्ति का सच्चा और गम्भीर होना आनन्द का विषय है। जिस उपासक की सच्ची और दृढ़ भक्ति हो, उसे विवेक और शान्ति जैसी

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।
नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।[८७]

संसार के पदार्थ अनित्य हैं। ईश्वर नित्य, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, चेतन जीवात्माओं को वश में रखने वाला, अनेकविध पदार्थों की रचना करने वाला और कर्मों का फलदाता है। जो ज्ञानी उपासक आत्मस्थ होकर उसकी अनुभूति कर लेते हैं, उन्हीं को स्थायी सुख–शान्ति की प्राप्ति होती है, अन्यों को नहीं।

(४) साक्षात्कार– किसी पदार्थ का जो स्वरूप, गुण और स्वभाव है, उसे यथार्थ रूप में जान लेना। यह निदिध्यासन का परिणाम है। निदिध्यासन पूर्णतः सिद्ध हो जाए तो विद्या के विषयों, पदार्थों और सत्य–असत्य का विवेक हो जाता है। तत्पश्चात् असत्य को छोड़ना और सत्य को ग्रहण करके आचरण में ले आना साक्षात्कार है। इस स्थिति की प्राप्ति आत्मोत्थान की सिद्धि में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

ज़ीने की सीढ़ियाँ चढ़े बिना छत–पार की वस्तुओं का अनुमान हो सकता है, स्पष्ट ज्ञान वा दर्शन नहीं। ज्ञान एवं दर्शन के लिए सीढ़ियाँ चढ़कर छत पर पहुँचना आवश्यक है। इसी प्रकार अध्यात्म–ज्ञान एवं आत्मदर्शन के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार के समस्त सोपान पार करने आवश्यक हैं।

भ्रान्ति–निवारण

ईश्वर, योग और भक्ति को लेकर संसार में अगणित भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं। जब तक मनुष्य सत्य–असत्य का व्यापक परीक्षण नहीं कर लेता, तब तक आरोहण और अवरोहण दोनों चलते रहते हैं। सतत उत्थान के लिए भ्रान्तियों का निवारण करना आवश्यक है। भ्रान्तियों की

८७. कठोपनिषद् (वल्ली–५, श्लोक–१२, १३)।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।।[८६]

शरीर अर्थात् अन्नमय कोश का शोधन जल से; मन अर्थात् मनोमय कोश का शोधन सत्य के व्यवहार से; बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय कोश का शोधन ज्ञान–प्राप्ति से; जीवात्मा का शोधन विद्या और तप से होता है। प्राणमय कोश का शोधन हवन और प्राणायाम से होना प्रसिद्ध है। 'कारण शरीर' एकरस रहता है; अतः इसका शोधन अपेक्षित नहीं है।

शुचिता के साधनों में जल गौण और धन प्रमुख है। जिस मनुष्य का धन पवित्र है, वही मनुष्य वास्तव में पवित्र है।

श्रवण चतुष्टय

ज्ञान को प्राप्त करने, दृढ़ करने और आचरण में लाने के लिए चार चरण हैं जिन्हें श्रवण चतुष्टय कहते हैं:–

(१) श्रवण– श्रवण सम्यक् हो, अर्थात् किसी आचार्य के उपदेश को सुनते समय अथवा ग्रन्थ को पढ़ते समय ध्यान देकर सुनना–पढ़ना चाहिए। ब्रह्मविद्या सब विद्याओं में सूक्ष्म है; अतः इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

(२) मनन– श्रवण के पश्चात् एकान्त में बैठकर मनन करना, ग्रन्थ से पुष्टि करना तथा शंका के समाधान हेतु आचार्य से प्रश्न भी कर लेना चाहिए।

(३) निदिध्यासन– श्रवण और मनन के पश्चात् समाधिस्थ होकर ध्यान योग से देखना। ध्यान योग से देखे बिना विद्या परिपक्व और निर्भ्रान्त नहीं होती। ध्यान योग में ही किसी विषय का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट होता है। **अधिकांश व्यक्ति श्रवण, अध्ययन और मनन से ही ज्ञान को पूर्ण मान लेते हैं जो उनकी अपरिपक्वता है। इसी अपरिपक्वता के कारण आज के विद्वान् लोग ऋषि–पद तक नहीं पहुँच पा रहे हैं।** अतः ज्ञानमार्गी लोग इस बात पर ध्यान दें और निदिध्यासन करें अर्थात् विद्या के विषयों को समाधिस्थ होकर ध्यान योग से अवश्य देखा करें।

८६. मनुस्मृति (अध्याय–५, श्लोक–१०६, १०६)।

करता है। 'उदान' कण्ठ से ऊपर गति करने से उदान कहलाता है और बोलने, गाने आदि के कार्य करता है। 'समान' आमाशय एवं पक्वाशय में रहकर अन्न को पचाता और रसों का शरीर में वितरण करता है। 'व्यान' सम्पूर्ण शरीर में गति करता, हृदय को धड़काता, रुधिर का सञ्चरण करता और पसीना बाहर निकालता है। 'अपान' पक्वाशय में रहकर नीचे की ओर गति करता है; मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ और आर्तव का धारण एवं निकास करना इसी का कार्य है। प्राणमय कोश के कार्य अन्नमय कोश की तुलना में सूक्ष्म हैं।

३. मनोमय कोश– यह अहङ्कार, मन और पाँच कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर, वाणी, मूत्रेन्द्रिय एवं मलेन्द्रिय) अर्थात् सात तत्त्वों का समूह है। यह जीवात्मा का कर्म–साधन कहलाता है।

४. विज्ञानमय कोश– यह बुद्धि, चित्त और पाँच ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जिह्वा एवं त्वचा) अर्थात् सात तत्त्वों का समूह है। यह जीवात्मा का ज्ञान–साधन कहलाता है।

प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। इसे अन्तःकरण भी कहते हैं। यह मृत्यु के पश्चात् भी जीवात्मा के साथ जाता है और मोक्ष–प्राप्ति के समय छूटता है।

५. आनन्दमय कोश– इसमें दो तत्त्व हैं– (१) सत्त्व–रजस्–तमस् रूपी प्रकृति से निर्मित 'कारण शरीर' जो सब जीवात्माओं का एक ही है; यह मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा के साथ जाता किन्तु मोक्ष–प्राप्ति के समय छूट जाता है। (२) प्रीति, प्रसन्नता और आनन्द, जिनका जीवात्मा अपने स्वाभाविक शरीर से भोग करता है। स्वाभाविक शरीर मोक्ष में भी जीवात्मा के साथ रहता है और इसी से जीवात्मा मोक्ष का आनन्द भोगता है।

पञ्च कोशों के विवेचन से मनुष्य को विवेक की प्राप्ति होती है। तदनुसार एक–एक कोश का शोधन करते हुए आत्म–शोधन किया जा सकता है:–

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थेशुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।।

इस समय पढ़े–लिखे लोगों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग कहता है कि धर्मशास्त्र के नाम पर बुद्धि–विरोधी शिक्षायें प्रचलित हैं; अतः धर्मशास्त्र अनावश्यक है। यह दृष्टिकोण अश्रद्धा कहलायेगा। दूसरा वर्ग कहता है कि धर्मशास्त्र आवश्यक है; उसके आधार पर बुद्धि–विरोधी शिक्षायें भी आवश्यक हैं। यह दृष्टिकोण अन्धश्रद्धा कहलायेगा। सन्तुलित विचार यह है कि **धर्मशास्त्र आवश्यक है किन्तु मध्यकालीन उथल–पुथल के कारण उसमें प्रक्षेप हो गये हैं, अतः बुद्धिपूर्वक सुधार करके उसकी शिक्षायें ग्रहण करनी चाहिए। सच्ची श्रद्धा का यही मार्ग है।**

(६) समाधान अर्थात् चित्त की एकाग्रता सम्पादित करते रहना। इससे मन–बुद्धि में बिखराव नहीं आता और उपलब्धियाँ सुरक्षित रहती हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।[८५]

अर्थात् जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट कर सुरक्षा प्राप्त करता है, वैसे समस्त इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मस्थ रहने वाले साधक को स्थिरप्रज्ञा और समाधान की प्राप्ति होती है।

पञ्च कोश विवेक

शरीर में अनेक तत्त्व हैं जो पाँच कोशों में विभक्त हैं। इन पाँच कोशों को समझना आत्म–ज्ञान एवं आत्म–संयम के लिए आवश्यक है। पञ्च कोश निम्नलिखित हैं:–

१. **अन्नमय कोश–** पञ्च तत्त्वों से निर्मित अस्थि–मांस युक्त शरीर 'अन्नमय कोश' कहलाता है। इसे बहिष्करण भी कहते हैं। किसी विचार वा चेष्टा को कर्म में परिणत करना इसी का काम है। यह मृत्यु के समय छूट जाता है।

२. **प्राणमय कोश–** शरीर के भीतर वायुरूप प्राण का सम्पूर्ण अधिष्ठान 'प्राणमय कोश' कहलाता है। इसमें पाँच प्राण हैं– प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान। 'प्राण' देह का धारण और श्वास–प्रश्वास का कार्य

८५. गीता (अध्याय–२, श्लोक–५८)।

षट्क सम्पत्ति

उत्थान मार्ग पर चलते हुए छः विशेष गुणों को साधना आवश्यक है। ये गुण मिलकर षट्क सम्पत्ति के नाम से जाने जाते हैं और निम्नलिखित हैं–

(१) शम अर्थात् मन पर संयम रखकर उसे सदा अधर्माचरण से हटाकर सत्यरूपी धर्म में प्रवृत्त रखना। **मन पर अपना वश हो तो थोड़े साधनों से बड़े काम हो जाते हैं; मन पर–वश हो तो उत्तमोत्तम साधन भी धरे रह जाते हैं।**

(२) दम अर्थात् इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर जितेन्द्रिय बनना। इन्द्रियाँ वश में हों, तभी आत्म–ज्ञान और आत्म–बल सुरक्षित रहते हैं; अन्यथा आरोहण के साथ–साथ अवरोहण होता रहता है।

(३) उपरति अर्थात् बुरे कर्म करने वाले लोगों से सदा दूर रहना। विपरीत लोगों को साथ रखने से अपना समय, धन और शक्ति, तीनों नष्ट होते रहते हैं; अतः उनसे दूर रहना ही भला है।

(४) तितिक्षा अर्थात् निन्दा–स्तुति, हानि–लाभ, सुख–दुःख, मान–अपमान आदि को सहते हुए आत्म–साधना में लगे रहना। **प्रत्येक कार्य में प्रतिदिन व्यवधान पड़ने की आशंका रहती है; अतः सदा सहनशील रहना चाहिए।**

(५) श्रद्धा अर्थात् ईश्वर, वेद, सत्य एवं ऋषि–वचनों पर दृढ़ विश्वास रखना। श्रद्धा का अर्थ है श्रत् (सत्य)+धा (धारण) अर्थात् सत्य को धारण करना। यह सत्य पर आधारित होती है। कपोल–कल्पित वस्तुओं पर आस्था रखना वास्तविक श्रद्धा नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति की आस्था कहीं–न–कहीं अवश्य होती है; किन्तु अहङ्कार के तोष–केन्द्र भिन्न–भिन्न होने के कारण आस्था के केन्द्र भिन्न–भिन्न हो जाते हैं। मानव धर्म यह है कि हमारा अहङ्कार सत्य के पालन में तोष का अनुभव करे; तभी सत्य पर आधारित होकर श्रद्धा वास्तविक होगी।

उतारती जाती है। इस प्रकार यह गाय का स्वतन्त्र एवं पूर्ण कर्म न होकर मनुष्य के अधीन हुआ। इसी प्रकार घोड़ा गाड़ी को स्वयं नहीं खींचता वरन् मनुष्य के आदेशानुसार खींचता है। बया पक्षी बहुत अच्छा घोंसला बनाता है, किन्तु जैसा बनाता है उससे भिन्न प्रकार का नहीं बना सकता। दूसरे शब्दों में, अन्य प्राणियों में अनेक गुण मनुष्य से अधिक हैं, किन्तु विवेक एवं कर्त्तव्यबोध केवल मनुष्य में है। इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य मनुष्य के प्रति होने के साथ–साथ अन्य प्राणियों के प्रति भी है। ये प्राणी मनुष्य के पूरक एवं सहायक हैं। अतः मनुष्य इनसे उपकार ले एवं इनकी रक्षा भी करे। **दया धर्म तो यहाँ तक कहता है कि उपकार लेना भूलकर भी प्राणिमात्र की रक्षा करे।** इस महायज्ञ के लिए आवश्यक है कि– (१) मनुष्य कभी किसी पशु–पक्षी की हिंसा न करे। सिंह, हाथी, सर्प आदि के बिगड़ने पर आत्म–रक्षा में इनका दमन करना आपद्–धर्म है। (२) मनुष्य अपने काम में आने वाले बैल, गाय, घोड़े आदि पशुओं पर अति भार न डाले और उनका शोषण न करे अपितु उनको पूरा अन्न देकर उनकी शक्ति के अनुसार काम ले। (३) विद्वान् लोग शिल्प–विद्या की उन्नति इस प्रकार करें कि मनुष्य का जीवन यन्त्रों पर कम निर्भर हो एवं पशु–पक्षियों से सम्बन्ध रखने वाला हो जिससे पशु–पक्षियों का यथावत् पालन होता रहे एवं मनुष्य यन्त्र–जनित व्याधियों से बचा रहे। (४) गृहस्थ व्यक्ति प्रतिदिन पशु–पक्षियों के पालनार्थ अन्नादि का भाग निकालता रहे। (५) जो मनुष्य असहाय हैं और स्वयं अपना जीवन चलाने में समर्थ नहीं हैं, ऐसे दरिद्र, अनाथ, अक्षम व्यक्तियों के जीवन–निर्वाह हेतु भी गृहस्थ स्त्री–पुरुष सामर्थ्यानुसार भाग निकालते रहें।

पञ्चमहायज्ञ का पालन करना धर्म का व्यावहारिक रूप है। ये इस प्रकार वर्गीकृत हैं कि इन पाँच के अन्तर्गत संसार के समस्त शुभ कर्म आ जाते हैं। इनमें अधिक समय, धन या शक्ति नहीं लगती। अतः इनका यथाशक्ति प्रतिदिन पालन करना चाहिए। इससे मन–वचन–कर्म सुधरते हैं और निश्चय ही जीवन का उत्थान होता है।

सज्जनों का आदर करना चौथे महायज्ञ के अन्तर्गत आता है, जिसे अतिथियज्ञ कहते हैं। इसका दूसरा नाम नृयज्ञ भी है अर्थात् समस्त नर–नारी के प्रति कर्त्तव्य, सद्व्यवहार, दान, आदर, सेवा, सम्मान, सहयोग आदि सत्कर्मों का करना। अतिथियज्ञ में केवल घर आये मेहमानों को भोजन–विश्राम ही नहीं देना होता अपितु सामाजिक, राष्ट्रीय एवं सार्वभौम हित में अपेक्षित प्रत्येक सहयोग देना होता है। इसमें अग्रांकित कर्म सम्मिलित हैं:– (१) सार्वजनिक हित के लिए कोई व्यक्ति दान लेने आये तो सामर्थ्यानुसार अवश्य देना, (२) दूर देश को जाने वाला पथिक रात्रि को भोजन–विश्राम चाहे तो सावधान रहते हुए अवश्य देना, (३) कोई विद्यार्थी ब्रह्मचारी भोजन–परिधान चाहे तो अवश्य देना, (४) कोई वानप्रस्थी राष्ट्रोत्थान के लिए समय–धन–श्रम माँगे तो अवश्य देना, (५) कोई संन्यासी संसार के उपकार हेतु समय–धन–श्रम माँगे तो अवश्य देना, (६) कोई शिक्षक अच्छी शिक्षा दे तो उसे गाँठ बाँधकर आचरण में लेना और तिरस्कार वा उपेक्षा न करना, (७) कोई सुधारक हमारा दुर्गुण वा दुर्व्यसन समझाये तो आदरपूर्वक समझकर धन्यवादपूर्वक मान लेना, (८) कभी–कभी श्रेष्ठ सदाचारी विद्वानों को अपने घर पर आमन्त्रित करना और अपनी उन्नति के उपाय पूछकर तदनुसार आचरण करना, (९) यदा–कदा श्रेष्ठ सदाचारी विद्वानों के पास फल–दक्षिणा आदि लेकर जाना तथा उनसे विद्या, सदाचार एवं उपासना की विधि सीखकर तदनुसार कर्म करना, (१०) **प्रत्येक मनुष्य को अपने जैसा महत्त्वपूर्ण समझकर सद्व्यवहार ही करना और कोई स्वार्थ न होने पर भी सहयोग को तैयार रहना।**

पाँचवाँ महायज्ञ वह कर्म है जो समस्त प्राणियों के प्रति किया जाता है। इसे बलिवैश्वदेव यज्ञ वा भूतयज्ञ भी कहते हैं। मनुष्य और अन्य प्राणियों में अन्तर है। मनुष्य के पास जो बुद्धि एवं कर्म–शक्ति है, वह अन्य प्राणियों के पास नहीं है। जैसे गाय दूध तो देती है किन्तु स्वयं दुहकर नहीं रख देती, जब मनुष्य उसे दुहता है तो बस अपने थनों में दूध

तीसरा महायज्ञ है–पितृयज्ञ, अर्थात् माता–पिता आदि वृद्धजनों की सेवा करना। माता–पिता के माध्यम से ही बालक संसार में आता है। माता–पिता द्वारा दिये गये संस्कार उसके जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं। माता–पिता उसका लालन–पालन उस अवस्था में करते हैं जब वह असहाय, अबोध एवं असमर्थ होता है। माता–पिता के आश्रय में ही वह धीरे–धीरे बड़ा होता है और एक दिन बलवान्, विद्वान्, धनवान्, गुणवान् बनता है। किन्तु माता–पिता धीरे–धीरे बूढ़े, असहाय एवं असमर्थ होते जाते हैं। उनके व्यवहार में भी दोष आ सकता हैं। तथापि उनके पूर्व–उपकारों के प्रति कृतज्ञता रखते हुए उनकी सेवा–शुश्रूषा करना धर्म है। यदि माता–पिता श्रेष्ठ विद्वान् न हों तो उनकी प्रत्येक आज्ञा मानना तो आवश्यक नहीं है, किन्तु उनकी सेवा करनी सदैव आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य का धर्म पूरा नहीं होता। इस सेवा के दो भाग हैं– (१) श्राद्ध अर्थात् श्रद्धापूर्वक सेवा करना, (२) तर्पण अर्थात् ऐसे उत्तम कर्म करना जिनसे उनका मन प्रसन्न एवं तृप्त रहे। स्वार्थी विद्वानों ने श्राद्ध एवं तर्पण का दूषित अर्थ करके मरे हुए माता–पिता के नाम से अन्न–वस्त्र देना धर्म बताया है, किन्तु यह मिथ्या है। वास्तविक कर्त्तव्य यह है कि उनके जीवन–काल में श्रद्धापूर्वक सेवा करनी एवं तृप्ति देने वाले उत्तम कर्म करना। यह सेवा केवल माता–पिता की ही नहीं अपितु चाचा–ताऊ, मामा–नाना, सास–ससुर आदि समस्त वृद्धजनों की करनी चाहिए। इससे इन वयोवृद्ध स्वजनों को सुख मिलता है तथा सेवा करने वाले को आयु, विद्या, यश एवं बल की प्राप्ति होती है। महर्षि मनु के अनुसार–

'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते, आयुर्विद्यायशोबलम्।।'[८४]

इस प्रकार देवयज्ञ में विद्वानों की सेवा तथा पितृयज्ञ में माता–पिता की सेवा करना धर्म बताया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक व्यक्ति होते हैं जो सेवा एवं सम्मान के पात्र हैं। ऐसे समस्त

८४. मनुस्मृति (अध्याय–२, श्लोक–६६)।

नहीं होता। शेष चारों में सबसे सूक्ष्म वायु एवं पवित्रकारक अग्नि है। इसलिए अग्नि जलाकर उसमें घी, केसर, कस्तूरी, कपूर, गुड़, गिलोय आदि सुगन्धित, पौष्टिक एवं रोगहारी द्रव्य डालने से वह सूक्ष्म होकर वायु में फैल जाता है। यह वायु पृथिवी, जल एवं वनस्पतियों में तो है ही, मनुष्य एवं अन्य प्राणियों के शरीरों में भी श्वास–प्रश्वास द्वारा आता–जाता है। वायु के अशुद्ध होने से शरीर रुग्ण तथा शुद्ध होने से शरीर नीरोग होता है। अतः प्रज्वलित अग्नि में प्रदीप्त घी डालना आवश्यक और गुणकारी है। यह कार्य हवन के माध्यम से अच्छा होता है। हवन में वेदमन्त्र बोलने से वेद का अभ्यास बना रहता है, विचार पवित्र होते हैं, आध्यात्मिकता बढ़ती है एवं मिलकर करने से एकता भी स्थापित होती है। यह हवन दोनों कालों में अर्थात् प्रातः एवं सायं किया जाता है।

देवयज्ञ का दूसरा भाग है–विद्वानों की सेवा। **विद्वांसो हि देवाः**[८२] के नियम से विद्वानों को देव कहते हैं। विद्वानों का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि विद्वान् सारे विश्व में सम्मान पाता है। नीतिकार ने कहा है–

विद्वान् प्रशस्यते लोके विद्वान् गच्छति गौरवम्।
विद्यया लभ्यते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते।।"[८३]

विद्वान् का यह सम्मान उसकी विद्या के कारण होता है। विद्या से ही मनुष्य सत्य–असत्य, धर्म–अधर्म, कर्म–अकर्म, न्याय–अन्याय, सद्–असद्, ज्येष्ठ–कनिष्ठ, देश–काल आदि को यथावत् जान सकता है। विद्या की प्राप्ति विद्वानों की सेवा से होती है। अतः विद्वान् व्यक्ति सम्मान का पात्र है। दशरथ ने विश्वामित्र का सम्मान करते हुए अपने पुत्र राम–लक्ष्मण उन्हें सौंप दिये थे। आचार्य चाणक्य का अपमान करके नन्दराज ने अपना विनाश ही करा लिया। पाण्डवों ने कृष्ण का सम्मान करके विजय प्राप्त की और दुर्योधन–शिशुपाल उनका अपमान करके नष्ट हो गये। इससे स्पष्ट है कि सदा विद्वानों का सम्मान करना चाहिए, अपमान कभी नहीं।

---

८२. शतपथ ब्राह्मण।

८३. चाणक्य नीति (अध्याय–८, श्लोक–२०)।

कुछ समय पढ़कर छोड़ देना, पुनः प्रारम्भ करके पुनः छोड़ देना फल की प्राप्ति नहीं करा सकता। अतः निरन्तरता आवश्यक है। द्वितीय, सदा आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ने चाहिए। अनार्ष ग्रन्थ एवं कुग्रन्थ उसी प्रकार हैं जैसे अन्न में मिला हुआ विष। वेद–विरोधी ग्रन्थ बिल्कुल नहीं पढ़ने चाहिए अन्यथा मन–बुद्धि शुद्ध एवं परिपक्व नहीं हो पाते हैं। तृतीय, पढ़े हुए को गुणते भी रहना चाहिए, अर्थात् ज्ञान के अनुरूप कर्म करते रहना। ज्ञान के बिना कर्म अन्धा है और कर्म के बिना ज्ञान लँगड़ा है। स्वाध्याय करने वाला जो व्यक्ति तदनुरूप कर्म नहीं करता, वह स्वाध्याय का फल नहीं पा सकता। इन तीन बातों का समावेश होने पर ही स्वाध्याय पूर्ण होता है।

(२) ब्रह्मयज्ञ का दूसरा भाग है–एकान्त स्थान में बैठकर योगाभ्यासपूर्वक ईश्वर का ध्यान करना। ईश्वर सर्वव्यापक होने के कारण उसके साक्षात्कार के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपने स्थान में निर्मल मन से बैठ जाए। प्राणायाम करके मन को टिकाए एवं बुद्धि को पवित्र करे। ईश्वर के निज नाम 'ओ३म्' की आवृत्ति करके वैदिक विधि से सन्ध्या करे। मन्त्र–विचार पूर्वक मन को ईश्वर के ध्यान में लगा ले एवं देर तक लगाये रखे। जैसे अग्नि के समीप बैठकर गर्मी की प्राप्ति होती है, वैसे ही भक्तिपूर्वक ईश्वर के निकट स्थित हो जाने से ईश्वर के गुणों अर्थात् ज्ञान, सत्य, न्याय, दया, सुख आदि की प्राप्ति होने लगती है। इससे मनुष्य का राग–द्वेष दूर होता है, **वसुधैव कुटुम्बकम्**[८१] की उदात्त भावना आती है और प्रतिक्षण उत्तम कर्म करने की योग्यता प्राप्त होती है।

देवयज्ञ दूसरा महायज्ञ है। इसका तात्पर्य है–देवों के प्रति किया जाने वाला कर्म। जड़ एवं चेतन की दृष्टि से देव दो प्रकार के होते हैं, इसलिए देवयज्ञ के भी दो भाग हैं– (१) हवन, (२) विद्वानों की सेवा। जड़ देव पाँच हैं–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनमें आकाश निराकार एवं निर्विकार है। यह सदा एक–सा रहता है और शुद्ध–अशुद्ध

८१. हितोपदेश (मित्रलाभ, श्लोक–७२)।

५–१० सेकण्ड बलपूर्वक खोलें; दोनों जबड़ों को ५–१० सेकण्ड परस्पर दबायें। इसे किसी भी समय कर सकते हैं। इससे मुँह की दुर्गन्ध दूर होती है, दाँत एवं मसूड़े सुदृढ़ होते हैं, चेहरे की झुर्रियाँ दूर होती और कान्ति आती है।

(३) **हस्त चक्र**:– दाहिने हाथ को आगे बढ़ाकर मुट्ठी बन्द करें; नीचे–पीछे–ऊपर की दिशा में ५ बार चक्र में घुमायें; ५ बार ऊपर–पीछे–नीचे–आगे की दिशा में चक्र में घुमायें। बायें हाथ को ५–५ बार दोनों दिशाओं में चक्रवत् घुमायें। दोनों हाथों को साथ–साथ एक दिशा और फिर विपरीत दिशा में ५–५ बार घुमायें। इससे हाथ और कन्धे पुष्ट होते तथा स्पाण्डलाइटिस में लाभ होता है।

पञ्च महायज्ञ

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।[७९] यज्ञ का अर्थ है– उत्तम कर्म। महायज्ञ वह उत्तम कर्म है जो प्रतिदिन समर्पण भाव से किया जाता है। वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक, दोनों दृष्टियों से गिनने पर ये महायज्ञ पाँच आते हैं, जो मिलाने पर 'पञ्च महायज्ञ' कहलाते हैं। ये महायज्ञ सब मनुष्यों के पाँच आवश्यक कर्त्तव्य हैं। इनके नाम हैं–ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ।

ब्रह्मयज्ञ से तात्पर्य है ईश्वर के स्वरूप को जानने, उसका ध्यान करने, उसकी उपासना से ज्ञान एवं सुख पाने तथा उसका साक्षात्कार एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला कर्म। इसके दो भाग हैं–

(१) मोक्ष दिलाने वाले शास्त्र एवं मुख्य रूप से वेद का स्वाध्याय करना। इससे मनुष्य ईश्वर को जान सकता है। योग दर्शन में कहा गया है– **स्वाध्यायाद् इष्टदेवता सम्प्रयोगः**।।[८०] अर्थात् स्वाध्याय करते–करते मनुष्य ईश्वर को जान एवं प्राप्त कर सकता है। स्वाध्याय में तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रथम, स्वाध्याय निरन्तर करना चाहिए।

७९. शतपथ ब्राह्मण।

८०. योग दर्शन (पाद–२, सूत्र–४४)।

शवासन

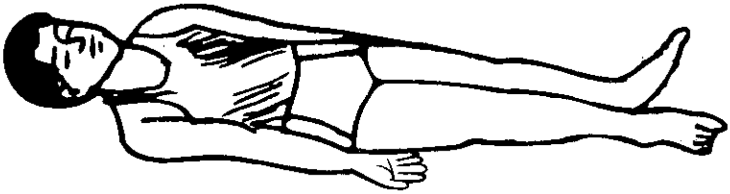

सीधे लेट जाएँ; हाथ शरीर से सटे और हथेलियाँ ऊपर की ओर हों; एड़ियाँ अन्दर और पञ्जे बाहर की ओर हों; गरदन बायीं ओर घूमी हो; मुख और आँखें आधी बन्द हों; सोचना बन्द करके काष्ठ की भाँति पड़े रहें। इस आसन की अवधि आवश्यकतानुसार २ मिनट से ३० मिनट तक है। इससे उच्च रक्तचाप, तनाव, चिन्ता और थकान दूर होती है। यह सभी व्यक्तियों को प्रतिदिन करना चाहिए। इसे सब आसनों वा व्यायामों के अन्त में करना चाहिए। बीच में थकान अनुभव हो तो व्यायाम के बीच में भी कर सकते हैं।

अंग—अंग के व्यायाम

इन आसनों के अतिरिक्त अंग—अंग के कुछ अन्य व्यायाम निम्नलिखित हैं:—

(१) **ग्रीवा चक्रः**—गरदन को आगे—पीछे ५—५ बार, बायें—दाहिने ५—५ बार, गोलाई में घड़ी की दिशा और फिर विपरीत दिशा में ५—५ बार घुमायें; आँखें बन्द करके ३० सेकेण्ड विश्राम करें ताकि सिर में चक्कर न आये। इसे दिन में किसी भी समय और ५—५ से अधिक बार भी कर सकते हैं। इससे खाँसी—जुकाम और स्पाण्डलाइटिस में लाभ होता है।

(२) **मुख चक्रः**— मुँह का ऊपरी जबड़ा स्थायी होता है, नीचे का जबड़ा घूम सकता है। मुँह खोलकर इसे बायें—दाहिने ५—५ बार घुमायें; मुँह का खोलना—बन्द करना जल्दी—जल्दी ५—५ बार करें; आँखों और मुँह को

अवस्था में आ जाएँ; दाहिनी ओर झुकते हुए दाहिने हाथ को दाहिने जानु के नीचे तक ले जाएँ; बायीं और दाहिनी ओर बारी–बारी झुकते हुए दोहराएँ। इसे ५–५ वा १०–१० बार कर सकते हैं। इससे रक्त सञ्चार ठीक होता और हाथ–पैर–कमर–गरदन–कन्धे बलिष्ठ होते हैं। इसे सभी व्यक्ति कर सकते हैं।

मयूरासन

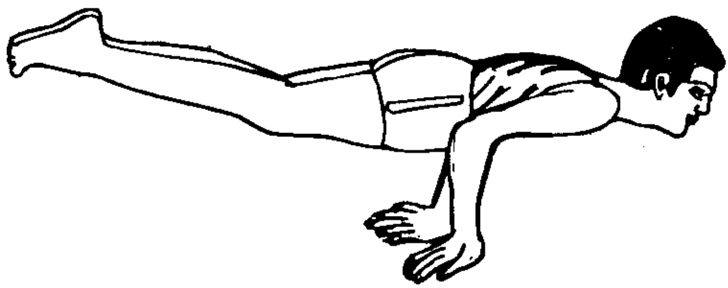

दोनों हाथों को भूमि पर इस प्रकार टिकाएँ कि अंगुलियाँ पीछे की ओर हों; दोनों कोहनियों को मिलाकर इन पर नाभि को टेक दें; सन्तुलन बनाते हुए सम्पूर्ण धड़ को उठाकर भूमि के समानान्तर लायें; हाथों पर सम्पूर्ण शरीर को टिकाए रखें। इस आसन की अवधि १ मिनट तक है किन्तु यह कुछ सेकण्डों में भी पूर्ण लाभ देता है। इससे पाचन तन्त्र, यकृत, तिल्ली और गुर्दों की क्षमता बढ़ती है। रक्त सञ्चार तीव्र होने से शरीर में तेज और कान्ति आती है। यौवन बना रहता और आयु लम्बी होती है। उच्च रक्तचाप के रोगी इसे न करें।

अर्द्धमत्स्येन्द्रासन

दाहिना पैर मोड़कर दाहिनी एड़ी मूल भाग में लगायें; बायाँ पैर दाहिने घुटने के ऊपर से ले जाकर भूमि पर टिकाएँ; दाहिनी बगल बायें घुटने पर टिकाते हुए दाहिने हाथ को बायें पैर के साथ–साथ फैलाएँ; गरदन बायीं ओर घुमाएँ; बायें हाथ को पीछे की ओर घुमाकर दाहिनी जंघा की ओर अधिक से अधिक दूरी तक ले जाएँ; श्वास–प्रश्वास सामान्य रूप से चलते रहें। पुनः पैर बदलकर दोहरायें। इस आसन को २ मिनट करना पर्याप्त है। इससे नस–नाड़ियाँ और स्नायुमण्डल पुष्ट होता, पाचन क्रिया में सुधार होता और मन पर नियन्त्रण होता है। इसे सभी व्यक्ति कर सकते हैं।

त्रिकोणासन

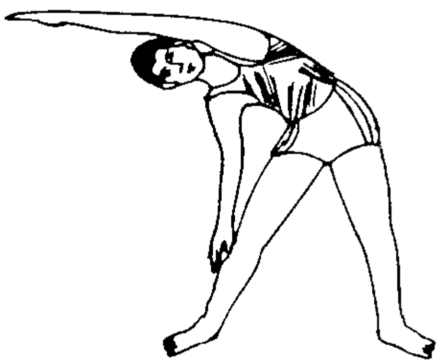

सीधे खड़े हों; दोनों हाथ कन्धों की सीध में फैलाएँ; बायीं ओर झुकते हुए बायें हाथ को बायें जानु के नीचे तक ले जाएँ; सीधे सामान्य

ओर हों; सम्पूर्ण शरीर एड़ियों के बीच पञ्जों पर टिका हो; दोनों हाथ दोनों जानुओं वा घुटनों पर ठहरे हों। इस आसन की अवधि ३० मिनट तक है। इससे पैरों की थकान मिटती, पैर सुदृढ़ होते और जोड़ मजबूत होते हैं।

ध्यान और उपासना के लिए पद्मासन न लगने पर इस आसन में बैठा जा सकता है। मुसलमान भाई प्रायः इसी आसन में बैठकर नमाज पढ़ते हैं। बैठे–बैठे पीछे लेट जाएँ तो उस स्थिति में आसन 'सुप्त वज्रासन' कहलाता है।

गोमुखासन

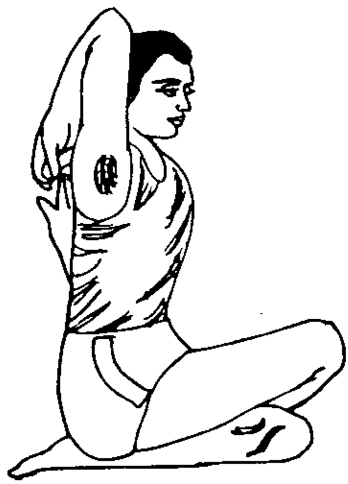

बायाँ पैर मोड़कर बायीं एड़ी मूल भाग में लगायें; दाहिने पैर को बायीं जंघा के ऊपर से ले जाकर भूमि पर टिकाएँ; दाहिना हाथ ऊपर से और बायाँ हाथ नीचे से पीठ पीछे जाकर एक–दूसरे को पकड़ें; श्वास–प्रश्वास सामान्य रूप से चलते रहें। पुनः पैर बदलकर दोहरायें। इस आसन को २ मिनट करना पर्याप्त है। इससे मोटापा दूर होता, शरीर सन्तुलित बनता, हाथ–पैर पुष्ट होते और स्नायु–मण्डल सुदृढ़ होता है। इसे सभी व्यक्ति कर सकते हैं।

देर बैठ सकें, बैठें। इससे श्वसन सम होता है, मन एकाग्र होता है, उच्च रक्तचाप में लाभ होता है, शरीर की थकान दूर होती है और ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। समस्त व्यक्तियों को यह आसन अवश्य करना चाहिए।

बद्धपद्मासन

पद्मासन लगाकर दोनों हाथ पीठ पीछे ले जाएँ; दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अँगूठा और बायें हाथ से बायें पैर का अँगूठा पकड़ें। इस अवस्था में २ मिनट बैठना पर्याप्त है। इससे मोटापा दूर होता और शरीर सन्तुलित बनता है। इसे सभी व्यक्ति कर सकते हैं।

वज्रासन

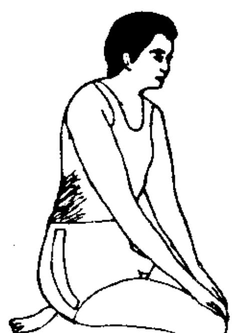

घुटनों के बल बैठें; दोनों पञ्जे अन्दर की ओर और एड़ियाँ बाहर की

कहलाता है। इससे पेट की अनावश्यक चर्बी दूर होती है, टाँगें सुदृढ़ होती हैं, जननेन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं और शरीर सन्तुलित बनता है। इसे सभी व्यक्ति कर सकते हैं।

शलभासन

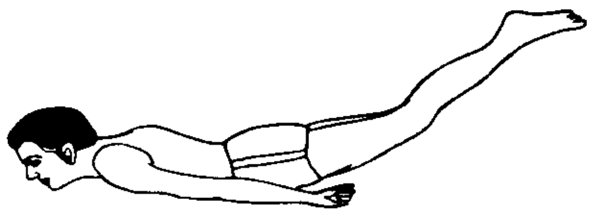

उल्टे लेट जाएँ; हाथ शरीर से सटे रहें; दोनों पैर ऊपर उठाएँ; हाथों पर भार डालकर यथाशक्ति ठहरे रहें। इसे आधा मिनट करना पर्याप्त है। इससे टाँगों की मांसपेशियाँ सुदृढ़ होतीं, अधिक चलने से प्राप्त थकान दूर होती और मधुमेह में लाभ होता है। उच्च रक्तचाप के रोगी इसे न करें।

पद्मासन

बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रखें; दाहिने पैर को बायीं जंघा पर रखें; दोनों एड़ियाँ नाभि के नीचे पेडू को छुएँ; दोनों हाथ घुटनों को छूते हुए आगे फैले रहें; दोनों हाथों की तर्जनियों को मोड़कर अँगूठों के मूल में लगायें। इस आसन की अवधि साढ़े तीन घण्टे तक है; अतः जितनी

उष्ट्रासन

घुटनों के बल बैठें; ऊपर उठकर पीछे की ओर झुकें; दोनों हथेलियों से पीछे के दोनों टखने छुएँ। इसे २ मिनट तक अथवा जितनी देर श्वास रोक सकें, उतनी देर करें। इससे मोटापा दूर होकर लचीलापन आता है, पाचन शक्ति बढ़ती है और स्पाण्डलाइटिस में लाभ होता है। हृदय रोगी इसे न करें।

उत्तानपादासन

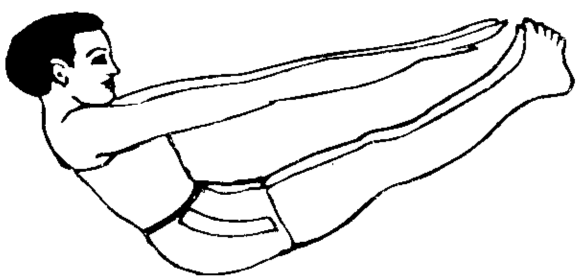

सीधे लेट जाएँ; दोनों हाथ शरीर से सटे हों; दोनों पैर ४५° के कोण पर उठाएँ, थोड़ी देर रोके रखें; फिर धीरे–धीरे भूमि के एक इंच ऊपर तक लाएँ, भूमि से छुआएँ नहीं; फिर ऊपर ४५° तक ले जाएँ; क्षमतानुसार दोहराएँ। एक–एक पैर बारी–बारी से ऊपर–नीचे लाएँ। ऐसा ५–५ वा १०–१० बार कर सकते हैं। सिर ऊपर उठाकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़ सकते हैं। उस अवस्था में यह उत्तानपादहस्तासन

चक्रासन

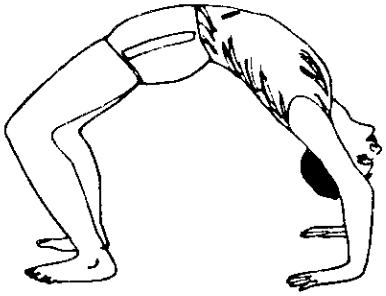

सीधे लेटकर धड़ ऊपर उठायें; पैरों के पञ्जों और हथेलियों के बल पर शरीर को टिकाकर चक्र की स्थिति में आयें। इसे २ मिनट तक अथवा जितनी देर श्वास रोक सकें, उतनी देर करें। इससे सभी अंग बलिष्ठ और लचकीले होते हैं। गरदन एवं हाथों में कम्पन तथा स्पाण्डलाइटिस का रोग नहीं होता। हृदय रोगी इसे न करे।

जानुशिरासन

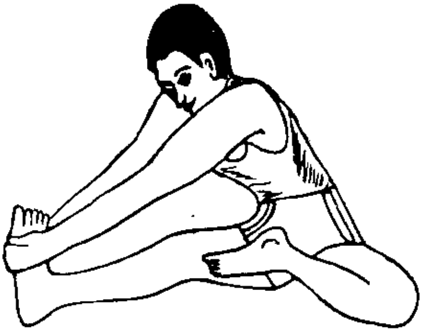

सीधे बैठकर एक पैर सीधा फैलायें; दूसरा पैर मोड़कर पहली जंघा से लगायें; दोनों हथेलियों से पहले पैर का पञ्जा पकड़ें; सिर को नीचे झुकाकर पहले पैर के घुटने से लगायें। पुनः पैर बदलकर करें। इसे २–२ मिनट तक कर सकते हैं। इससे टाँगें पुष्ट होतीं, पाचन शक्ति ठीक होती, शरीर में स्फूर्ति आती है और पश्चिमोत्तानासन के अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। स्पाण्डलाइटिस के रोगी इसे न करें।

भुजंगासन

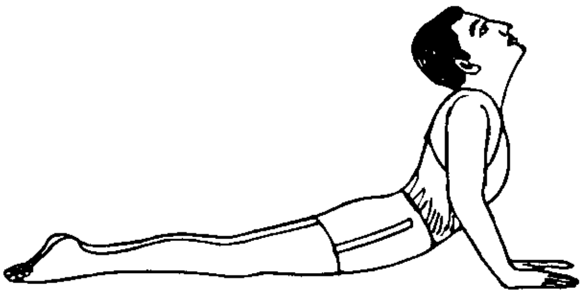

उल्टे लेट जाएँ; धड़ को ऊपर उठाकर हाथों के बल रुकें; नाभि से नीचे का भाग फर्श पर ठहरा रहे; आँख खोलकर छत को देखें; हाथ कोहनियों पर मुड़ें नहीं अपितु सीधे रहें। धीरे–धीरे श्वास लेते रहें। इसे सर्पासन भी कहते हैं। इसकी अवधि २ मिनट तक है। इससे मांसपेशियाँ पुष्ट होतीं, शरीर लचीला बनता और स्पाण्डलाइटिस में लाभ होता है। इसे सभी व्यक्ति कर सकते हैं।

कर्णपीडासन

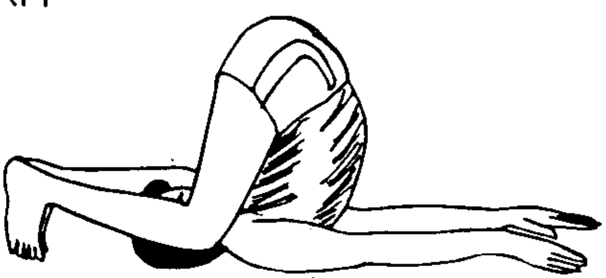

हलासन लगाकर दोनों घुटने कानों के पास लाकर उनसे कानों को दबायें; धीमे श्वास लेकर रुके रहें। इस आसन की अवधि ५ मिनट तक है। इससे मोटापा घटता; यकृत, तिल्ली और पेट के विकार दूर होते; मेरुदण्ड पुष्ट होता और श्रवण–शक्ति बढ़ती है। उच्च रक्तचाप और स्पाण्डलाइटिस के रोगी इसे न करें।

धनुरासन

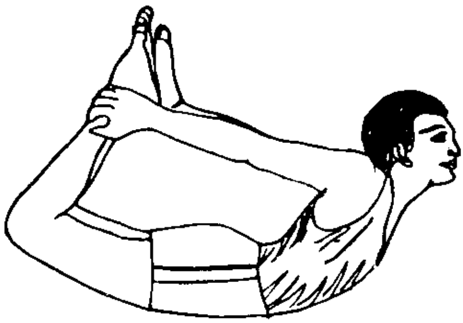

उल्टे लेट जाएँ; दोनों हाथों से दोनों पैर पकड़कर धनुष की आकृति में आएँ; केवल नाभि–क्षेत्र भूमि पर रहे। इस आसन की अवधि २ मिनट तक है। इससे मांसपेशियाँ पुष्ट होतीं, गैस का शमन होता, शरीर लचीला बनता और स्पाण्डलाइटिस में लाभ होता है। उच्च रक्तचाप के रोगी इसे न करें।

पश्चिमोत्तानासन

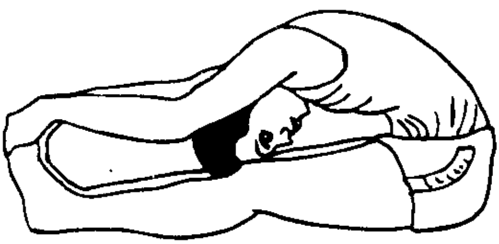

सीधे बैठें; दोनों पैर आगे फैलायें; दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़ें; मस्तक को घुटनों पर टिकाएँ; धीरे–धीरे श्वास लेते हुए यथाशक्ति ठहरे रहें। इस आसन की अवधि १० मिनट तक है। इससे पेट के रोग दूर होते, शरीर सुडौल बनता, स्नायुमण्डल पुष्ट होता और एकाग्रता में लाभ होता है। स्पाण्डलाइटिस के रोगी इसे न करें।

मत्स्यासन

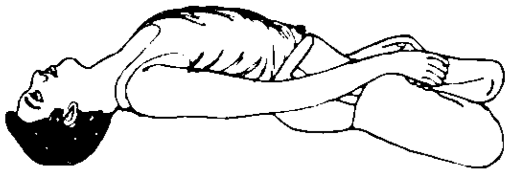

पद्मासन लगाकर पीछे लेट जाएँ; छाती ऊपर उठाकर धड़ को कमान की तरह मोड़ लें; सिर का सर्वोच्च भाग भूमि को स्पर्श करे; हाथों से पैरों के पञ्जे अथवा अँगूठे पकड़ लें; धीरे–धीरे श्वास लेते हुए रुके रहें। इस आसन की अवधि ५ मिनट तक है। इससे पेट के विकार दूर होते, खाँसी–जुकाम में लाभ होता और टाँगें पुष्ट होती हैं। इसे सभी व्यक्ति कर सकते हैं।

हलासनः–

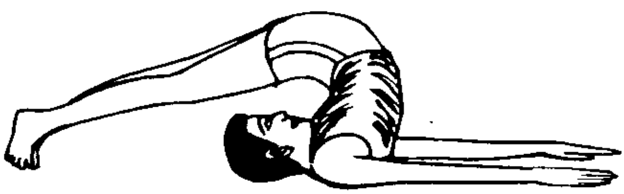

सीधे लेट जाएँ; पैरों को उठाकर सिर के पीछे ले जाएँ और भूमि पर टिका दें; पैर बीच से न मुड़ें; क्षमतानुसार रुके रहें; धीरे–धीरे समय बढ़ाएँ। इस आसन की अवधि ५ मिनट तक है। इससे गरदन, छाती और कमर की पुष्टि, रक्त–शोधन, भूख खुलती और आँतें मजबूत होती हैं। स्पाण्डलाइटिस के रोगी इसे न करें।

जाए। इसकी अवधि ३० मिनट तक है। आसन के पश्चात् ५ मिनट सीधे खड़ा होना चाहिए ताकि रक्त–प्रवाह सामान्य हो जाए। उच्च रक्तचाप के व्यक्ति और ज्वर के रोगी इसे न करें।

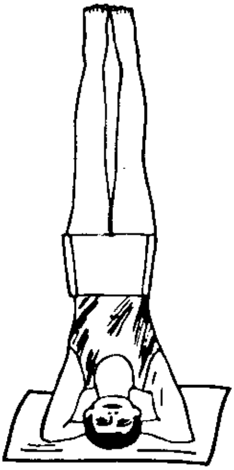

सर्वांगासन

सीधे लेट जाएँ; दोनों हाथों की सहायता से सम्पूर्ण धड़ को ऊपर उठाएँ ताकि गरदन पर सिर और धड़ के मध्य ६०° का कोण बन जाए; क्षमतानुसार रुके रहें। इस आसन की अवधि १० मिनट तक है। इसके लाभ भी शीर्षासन की भाँति हैं। उच्च रक्तचाप और ज्वर के रोगी न करें।

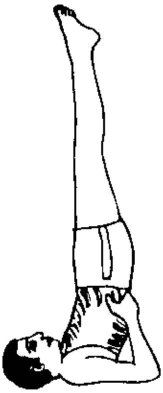

योगासन व्यायाम

शरीर छोटे–छोटे कोशों से मिलकर बना है। ये कोश टूटते और नये कोश बनते रहते हैं। टूटे कोश रक्त में मिलते रहते हैं जिससे रक्त दूषित होता रहता है। रक्त शोधन का कार्य प्राणवायु करती है। अशुद्धि--युक्त वायु निःश्वास के रूप में बाहर निकलती रहती है। व्यायाम करने से रक्त की गति बढ़ती है; रक्त शीघ्रता से फेफड़ों में पहुँचता है; श्वास–प्रश्वास की गति बढ़ती है; विषैले तत्त्व शीघ्रता से बाहर निकलते हैं; पसीने के सा॑ भी शरीर के मैल बाहर निकलते हैं। व्यायाम से शरीर के भीतरी अंग शुद्ध और सुदृढ़ होते हैं। फलस्वरूप शरीर बलिष्ठ और सुन्दर बनता है। अतः सभी स्त्री–पुरुषों को प्रतिदिन व्यायाम करना चाहिए।

व्यायाम के अनेक प्रकार हैं। विद्यालयों में जो पी०टी० करायी जाती है, उसे मनुष्य बाद में भी अपनाये रखे तो उसका तन–मन स्वस्थ बना रहे। दण्ड–बैठक शक्तिवर्द्धक तो हैं किन्तु इनसे कुछ रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तैराकी और नृत्य उत्तम व्यायाम हैं। हाकी, फुटबाल, वालीबाल, कबड्डी, टेनिस आदि अच्छे व्यायाम हैं। किन्तु इनमें अनेक साथियों और वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। योगासनों में किसी साथी अथवा वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती, जिससे ये आजीवन किये जा सकते हैं। बस इतना ध्यान रखें कि एक बार आगे की ओर झुकने वाला आसन करें तो उसके बाद पीछे झुकने वाला आसन करें। योगासनों की संख्या सैकड़ों में है, जिनमें से प्रमुख आसन निम्नलिखित हैं:–

शीर्षासन

यह आसन सब आसनों में श्रेष्ठ बताया गया है। इसमें रक्त का प्रवाह मस्तक की ओर होता है जिससे नेत्र–ज्योति बढ़ती, पेट साफ होता, दाँत मजबूत होते, भूख तीव्र होती, दाद–खाज–फोड़े–फुन्सी में लाभ होता, मस्तिष्क की गर्मी दूर होती और चेहरे पर तेज आता है। इस आसन को सर्वप्रथम करना चाहिए ताकि मस्तक की ओर गर्म रक्त न

यकृत की कार्य–प्रणाली अवरुद्ध होने पर पित्त पूर्णतः आचूषित नहीं हो पाता और रक्त में मिला रह जाता है जिससे पीलिया रोग हो जाता है।

अग्न्याशय में उत्पन्न होने वाले तत्त्व 'इन्सुलिन' की कमी से मधुमेह रोग उत्पन्न होता है जिससे रक्त में चीनी की मात्रा अधिक हो जाने से घाव भरने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

रक्त जिन नलिकाओं में दौड़ता है, उनकी दीवारों पर दबाव डालता है। बीस वर्ष के युवक में यह दबाव अधिकतम १२० मिलीमीटर होता है और प्रतिवर्ष आधा मिलीमीटर बढ़ता जाता है। न्यूनतम दबाव ६० से ६० मिलीमीटर के मध्य होना चाहिए। अधिकतम से अधिक दबाव होना उच्च रक्तचाप और न्यूनतम से न्यून दबाव होना निम्न रक्तचाप का रोग कहलाता है। ये दोनों ही गम्भीर रोग हैं। धूम्रपान, मद्यपान, श्रम–रहित दिनचर्या, मानसिक तनाव और मोटापे से भी रक्तचाप बढ़ता है।

आर्थिक तंगी, परिजनों के बिछोह, मृत्यु–भय, असफलता, एकाकी जीवन, निराशा आदि से स्थायी उदासी की उत्पत्ति होती है जो अवसाद (डिप्रेशन) नामक रोग कहलाता है। यह रोग जीवन के प्रति उत्साह को समाप्त कर देता है और आत्महत्या वा हीन–भावना का कारण बनता है।

शरीर में किसी कोश वा कोशों के समूह का असामान्य विकास होना कैंसर कहलाता है। यह बहुधा तम्बाकू, सिगरेट, धुएँ, तली सामग्री, सेक्रीन, पालिश की गई दालों, इत्र आदि के प्रयोग से होता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान इससे बचाव के कुछ उपाय बता रहे हैं, तथापि यह गम्भीरतम रोगों में से एक है।

यदि मनुष्य सरल प्राकृतिक जीवन व्यतीत करे, युक्ताहार–विहार का पालन करे, श्रम–विश्राम में सन्तुलन रखे और नियमित व्यायाम करे तो वह रोगों से बचा रह सकता है और अपना समय, धन एवं शक्ति रोगों से लड़ने में लगाने के बजाए उत्थान के उपायों में लगा सकता है। उचित होगा कि वह ऐसा ही करे।

वा गुनगुने जल का प्रयोग करके और शरीर को ठण्डी, गर्म एवं तीव्र वायु से बचाकर इन रोगों से बचा जा सकता है।

ज्वर

शरीर की तापवृद्धि को ज्वर कहते हैं। लगभग सभी रोगों में ज्वर हो जाता है। ठण्ड लगने, वर्षा में भीगने, चोट लगने, अधिक परिश्रम करने, अनियमित भोजन करने वा अधिक उपवास करने से मामूली ज्वर हो जाता है और यदि शरीर में सञ्चित विकार न हो तो यह ज्वर २–३ दिन में उतर जाता है। किन्तु असावधानी वा अयुक्त भोजन से ज्वर बिगड़ जाए तो परिणाम भयंकर भी हो सकता है। अतः शरीर के तापमान के प्रति सचेत रहना चाहिए।

कब्ज

पानी की कमी, पाचन–तन्त्र की निर्बलता अथवा अयुक्त भोजन से कब्ज हो जाता है। अतः पर्याप्त जल, पत्तीदार सब्जियाँ और रेशेदार फलों का सेवन करके कब्ज से बचना चाहिए। सप्ताह में एक समय उपवास रखना भी लाभदायक है।

मोटापा

मोटापा स्वयं तो रोग है ही। इसके कारण एकत्र वसा अनेक गम्भीर रोगों एवं अक्षमताओं को जन्म भी देती है। अतः स्वाद पर नियन्त्रण रखकर एवं शारीरिक श्रम करके शरीर का भार नियन्त्रित रखना चाहिए। टहलने में शरीर की वसा जलकर कम होती है जिससे मोटापा दूर होता है।

गम्भीर रोग

वैसे तो गम्भीर रोगों की कोई सीमा नहीं है। तथापि पीलिया, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, अवसाद और कैंसर के रोगी सर्वत्र मिल जाते हैं। यदि मनुष्य सावधान और सन्तुलित रहे तो रोगी न होगा और रोगी हो भी जाए तो गम्भीर रोगों से अवश्य बचा रहेगा।

वा गुनगुना जल भी ले सकते हैं। उषः पान से कब्ज दूर रहता है। किन्तु बेड–टी लेना अथवा शौच से पहले धूम्रपान करना हानिकारक है। इन व्यसनों से पेट पूर्णतः साफ नहीं होता और अनेक रोग लग जाते हैं।

नेत्र–दन्त सुरक्षा

नेत्रों पर वायु, अग्नि और धूल का अत्यधिक दबाव रहता है। अतः स्नान के समय नेत्रों को विशेष रूप से स्वच्छ करें। मुख में जल भरकर खुले नेत्रों पर जल के झींटे दें। जल से भरी बाल्टी में चेहरा डालकर नेत्रों को ऊपर–नीचे, दाहिने–बायें, दोनों कोनों में और घड़ी की दिशा एवं उसकी विपरीत दिशा में बारी–बारी से गोलाई में घुमाकर अभ्यास करें। नेत्र–अभ्यास हेतु गरम जल का प्रयोग न करें; जल का तापमान सामान्य अथवा उससे कुछ कम होना चाहिए।

रात्रिकालीन भोजन के पश्चात् हाथों को धोकर पोंछें नहीं अपितु गीले हाथों को दोनों नेत्रों पर एक–दो मिनट रखे रहें। प्रातः काल उदय होते हुए सूर्य को देखें। पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा को देखें। अग्नि, धूप और तेज हवा से नेत्र–रक्षा हेतु चश्मे का प्रयोग करें। प्रतिदिन कुछ समय नेत्र बन्द करके बैठा करें।

दिन में केवल एक बार मञ्जन कर लेने से दाँत सुरक्षित नहीं रह पाते। अतः प्रत्येक भोजन के बाद और रात्रि को सोते समय दाँत साफ करें। भोजन को चबा–चबाकर खायें। अधिक ठण्डी, अधिक गर्म अथवा अति कठोर वस्तुएँ दाँतों को हानि पहुँचाती हैं। चाय, धूम्रपान, मद्यपान अधिक मीठा और प्रतिदिन पान खाने से भी दाँत खराब होते हैं। दाँतों को स्वच्छ और मुख को दुर्गन्धमुक्त रखना चाहिए।

खाँसी–जुकाम

खाँसी और जुकाम बड़ी जल्दी होने वाले रोग हैं। सर्दी–गर्मी अथवा वायु के प्रति सावधानी हटते ही खाँसी वा जुकाम हो जाता है। ये गम्भीर रोग नहीं हैं, किन्तु बार–बार हो जाएँ अथवा लम्बे समय तक बने रहें तो गम्भीर हो जाते हैं। अतः भोजन में नियमितता लाकर, गरम

रखना चाहिए। जिस प्रकार दो बार मुख्य भोजन किया जाता है, उसी प्रकार प्रातः एवं सायं अर्थात् दो बार शौच अवश्य जाना चाहिए। यदि शौच जाने पर भी शौच नीचे न उतरे तो पेट को आगे से अन्दर प्राण द्वारा दबाना चाहिए, नीचे को बल नहीं लगाना चाहिए। कुछ भी खाने वा पीने के बाद मूत्र अवश्य त्यागना चाहिए। इससे गुर्दे अतिरिक्त भार से बचे रहते हैं और शरीर की अतिरिक्त गर्मी बाहर निकलती है।

रोग–निवारण

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।।[७६]

अर्थात् मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष की प्राप्ति करना है। इसका प्रथम साधन है–स्वास्थ्य। रोग स्वास्थ्य को नष्ट करने वाले हैं। रोगी व्यक्ति धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष में से किसी की प्राप्ति नहीं कर सकता। **शत्रोरपि विशिष्यते व्याधिः।।**[७७] अर्थात् रोग शत्रु से भी अधिक हानिकारक हैं। अतः उत्तम जीवन की साधना के लिए रोग–निवारण आवश्यक है।

प्रज्ञापराधो हि मूलं रोगाणाम्।[७८]

अर्थात् रोग का प्रथम कारण है–बुद्धि की भूल। भूलवश अधिक खाने, गलत खाने, गर्मी–सर्दी की उपेक्षा करने और प्रतिकूलता में सावधान न रहने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः विचारपूर्वक जियें और रोगों से बचे रहें।

उषः पान

प्रातःकाल उठते ही शौच जाने से पहले एक गिलास जल एकदम से पीना चाहिए। इसे उषः पान कहते हैं। यह जल ठण्डा न हो; सामान्य ताप का हो। रात्रि को ताम्र पात्र में रखा हुआ हो तो और अच्छा। यदि सामान्य जल अनुकूल न पड़े तो गुनगुना जल लें। नीबू डालकर सादा

७६, ७८. चरक।
७७. चाणक्य–सूत्र।

वाले व्यक्ति के मन में ईर्ष्या, क्रोध, निन्दा, हिंसा, जल्दबाज़ी वा कोई अन्य विकार है, तो भोजन शरीर को नहीं लगेगा। भोजन के समय मन का अच्छा होना बहुत आवश्यक है। बोलते रहने से मुख में लाला रस कम बनता है जिससे भोजन का समुचित पाचन नहीं हो पाता। अतः मौन रहते हुए, शान्तिपूर्वक, चबा–चबाकर, मित मात्रा में प्रेमपूर्वक भोजन ग्रहण करें। भोजन के पश्चात् भाग–दौड़ वा कठोर परिश्रम नहीं करना चाहिए। दोपहर के भोजन के पश्चात् थोड़ा विश्राम और रात्रिकालीन भोजन के पश्चात् कुछ भ्रमण करना चाहिए।

पेय पदार्थों के मुख्यतः तीन वर्ग हैं– जलवर्ग, चायवर्ग एवं मद्यवर्ग। शुद्ध एवं शीतल जल घूँट–घूँट करके पिया जाए, तो सर्वोत्तम पेय है। किन्तु पेयों के नाम से प्रसिद्ध ठण्डे कृत्रिम पेय स्वास्थ्य के लिए लाभदायक नहीं हैं। चाय–काफी का आजकल बहुत प्रचलन है किन्तु ये स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं हैं और ओषधिरूप में यदा–कदा इनका सेवन किया जा सकता है क्योंकि कुछ रोगों में ये लाभ पहुँचाते हैं। मद्य तो न केवल हानिकारक वरन् निकृष्ट भी है। शराब में स्प्रिट होती है जो आमाशय जैसे कोमल अंगों को कठोर बना देती है, उत्तेजना उत्पन्न करती है, रक्त में से जल को सोख लेती है और यकृत एवं स्नायुमण्डल को निर्बल बनाती है। तम्बाकू, भंग, अफीम आदि नशीले पदार्थों का सेवन स्वास्थ्य के इच्छुक व्यक्तियों को नहीं करना चाहिए। वैसे ईश्वर ने कोई द्रव्य व्यर्थ नहीं बनाया है; उसका कुछ–न–कुछ उपयोग अवश्य होता है; विष का भी औषध में उपयोग होता है; किन्तु भोजन में सम्मिलित करने के पूर्व खाद्य पदार्थों पर यथोपरि विचार कर लेना चाहिए।

प्रतिदिन प्रातःकाल ताज़ी वायु का पर्याप्त सेवन करना चाहिए। गहरे श्वास लेने चाहिए ताकि फेफड़े ठीक से भरें। यथाशक्ति विधिपूर्वक प्राणायाम भी करना चाहिए। यथासम्भव हवन गैस का भी सेवन करना चाहिए जो रोगनाशक, आरोग्यवर्द्धक और कल्याणकारिणी होती है।

भोजन करने के साथ–साथ मल–मूत्र त्यागने का भी सदा ध्यान

इतने ही मांस से ढाई गुणी अधिक उष्मा होती है।

याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत्।
याममध्ये रसोद्वेगः युग्मातीते बलक्षयः।।[७२]

अर्थात् एक बार भोजन करने से ३ घण्टे के भीतर पुनः कुछ नहीं खाना चाहिए और ६ घण्टे तक बिना खाये नहीं रहना चाहिए। जो लोग ३ घण्टे के भीतर पुनः खा लेते हैं उनके भोजन का सही पाचन नहीं होता और जो ६ घण्टे निरन्तर भूखे रहते हैं उनके बल का क्षय होने लगता है।

भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में कोई सार्वभौम प्रमाण नहीं है। **मात्रा प्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावत् विजीर्यते।**[७३] अर्थात् इतना भोजन करना चाहिए जो सुखपूर्वक विजीर्ण (हजम) हो जाए, अजीर्ण (कब्ज) न हो, निद्रा ठीक आए और मन में हल्कापन एवं ताज़गी अनुभव हो। भोजन की मात्रा शरीर की बनावट, अवस्था, श्रम, ऋतु, जलवायु एवं मन की स्थिति पर निर्भर करती है। **मितभोजनं स्वास्थ्यम्।।**[७४] अर्थात् भोजन की मित मात्रा (न कम, न अधिक) स्वास्थ्यकर है। मोटे सिद्धान्त से आमाशय का आधा भाग भोजन से, चौथाई पेय से एवं चौथाई वायु से भरना चाहिए।

भोजन करने की विधि का जीवन में बहुत महत्त्व है। महर्षि मनु की शिक्षा है–

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः।।[७५]

अर्थात् भोजन का आदर करें, इसे निन्दारहित होकर खायें, भोजन को देखकर मन में उल्लास, प्रसन्नता एवं आनन्द का भाव रखें।

भोजन कितना भी पौष्टिक, स्वादिष्ट एवं सुपाच्य हो, यदि खाने

७२, ७३. चरक।
७४. चाणक्य–सूत्र।
७५. मनुस्मृति (अध्याय–२, श्लोक–२६)।

तरबूज	३.४	०.१	०.२	५	ए अत्यल्प
सन्तरा	१०.६	०.६	०.३	१४	ए, बी
पपीता	६.६	०.५	०.१	११	ए अत्यधिक
अनार	१४.६	१.६	०.१	१३	अत्यल्प ए–बी–सी
बादाम	१०.५	२०.५	५८.६	१८६	बी
काजू	२२.३	२१.२	४६.६	१६६	ए, बी
मूंगफली	२०.३	३६.७	४०.१	१५६	बी
पिस्ता	१६.२	१६.८	५३.५	१७८	ए
अखरोट	११.०	१५.६	६४.५	१६५	बी
किशमिश	७७.३	२.०	०.२	६१	बी
गाय का दूध	४.८	३.३	३.६	१८	ए, बी
भैंस का दूध	५.१	४.३	८.८	३३	ए
बकरी का दूध	४.७	३.७	५.६	२४	ए
दूध पाउडर	१.०	३८.०	०.१	१०१	बी अल्प
पनीर	६.३	२४.१	२५.१	६६	ए
दही	३.३	२.६	२.६	१४	ए, बी अल्प
मट्ठा	०.५	०.८	१.१	४	ए अल्प

इन तत्त्वों को सन्तुलित मात्रा एवं उचित अनुपात में लेना चाहिए। एक द्रव्य किसी को लाभ और अन्य को हानि पहुँचाता है; किसी एक को भी कभी लाभ और कभी हानि पहुँचा सकता है। अतः अपने अनुभव के अनुसार सेवन करें।

शाकाहारी मनुष्यों के लिए दूध और घी का सेवन आवश्यक है। चिकित्सा शास्त्र के अनुसार–"**क्षीरघृताभ्यासो रसायनानां श्रेष्ठतमः।**"[७१] दूध में शरीर की क्षतिपूर्ति करके रस–रक्तादि धातुओं की वृद्धि कर अंग–प्रत्यंग का विकास करने वाले तत्त्व प्रभूत मात्रा में होते हैं। दूध सदा ही स्वस्थ पशु का लेना चाहिए। जिसका बच्चा जीवित हो, ऐसी स्वस्थ गाय का दूध अमृत समान है। दूध को पूर्णाहार की संज्ञा दी गयी है। घी में १०० प्रतिशत स्नेह (फैट) होता है। बल, बुद्धि एवं आयु की वृद्धि हेतु इसके बराबर उत्तम पदार्थ कोई अन्य नहीं है। दैनिक जीवन में ५० ग्राम घी लेते रहने से पर्याप्त पौष्टिक तत्त्व मिल जाते हैं। इतने घी में

७१. चरक।

चावल	७६.१	६.४	०.४	६८	बी
गेहूँ	७२.२	१२.१	१.७	१००	–
चना	६१.२	१७.१	५.३	१०३	ए. बी
उर्द	६०.३	२८.०	१.४	६६	बी
सोयाबीन	२०.६	४३.२	१६.५	१२३	ए. बी
बन्दगोभी	६.३	१.८	०.१	६	ए अधिक
धनिया	६.५	३.३	०.६	१३	ए अत्यधिक
सहजन	१३.४	६.७	१.७	२७	ए अत्यधिक, बी,सी
मेथी	६.८	४.६	०.६	१६	ए अत्यधिक
पोदीना	८.०	४.८	०.६	१६	ए अत्यधिक
नीम	२१.२	११.६	३.०	४५	ए अत्यधिक
पालक	४.०	१.६	०.६	६	ए अत्यधिक, बी
चुकन्दर	१३.६	१.७	०.१	१६	बी
गाजर	१०.७	०.६	०.२	१३	ए अधिक, बी
प्याज	११.६	१.२	०.१	१४	बी
आलू	२२.६	१.६	०.१	२८	बी
मूली	४.२	०.७	०.१	६	बी
अरबी	५२.१	३.०	०.१	२६	बी
करेला	४.२	१.६	०.२	७	ए. बी
बैंगन	६.४	१.३	०.३	१०	बी
गोभी	५.३	३.५	०.४	११	बी
कटहल बीज	३८.४	६.६	०.४	५२	–
आँवला	१४.१	०.५	०.१	१७	सी
मटर	१६.८	७.२	०.१	३१	बी
तुरई	३.७	०.५	०.१	५	ए अल्प, बी
टमाटर	३.६	१.०	०.१	६	ए. बी
बेर	१२.८	०.८	०.१	१६	ए अल्प
अमरूद	१४.५	१.५	०.२	१६	सी
पान	६.१	३.१	०.८	१२	ए अत्यधिक
गुड़	९५.०	०.४	०.६	१०६	ए
मधु	८०.०	–	–	६८	–
आम	११.८	०.६	०.१	१४	ए अत्यधिक
सेव	१३.४	०.३	०.१	१६	बी
केला	३६.४	१.३	०.२	४३	बी
खजूर	६७.२	३.०	०.२	८०	ए. बी
अंगूर	१०.२	०.८	०.१	१३	अत्यल्प ए–बी–सी
जामुन	१६.७	०.७	०.१	२४	–
नीबू	१०.६	१.५	१.०	१७	सी

धीरे–धीरे क्षमता भी बढ़ाते रहना चाहिए। **अति भारः पुरुषमवसीदयति**[६७] अर्थात् अति भार दुःख का कारण बन जाता है।

अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभिः।[६८] अर्थात् दान, अध्ययन आदि कर्मयुक्त उत्तम दिनचर्या से प्रत्येक दिवस को सार्थक करें। प्रत्येक दिन जीवन रूपी भवन की एक सुदृढ़ ईंट के रूप में सज्जित होता चले। **जैसे एक–एक ईंट को विधिपूर्वक रखते हुए विशाल भवन बनकर तैयार हो जाता है, वैसे ही प्रत्येक क्षण, प्रत्येक घण्टे और प्रत्येक दिन को सन्तुलित और व्यवस्थित करके जीवन का उत्थान हो सकता है।** कभी कोई कार्य बिगड़ जाए तो उसके पश्चात्ताप में अगले कार्य न बिगाड़ें अपितु वर्तमान और आने वाले क्षणों का स्वागत करते हुए उन्हें सार्थक बनाते चलें।

सन्तुलित आहार

आयुर्वेद के अनुसार– **त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति।**[६९] अर्थात् स्वास्थ्य के तीन आधार हैं–आहार, निद्रा एवं संयम। ये तीनों आधार सम्यक् बने रहें तो आरोग्य भी बना रहता है, जैसे तीनों पाये सम हों तो तिपाई टिकी रहती है। यदि एक भी पाया कट–पिट जाए तो तिपाई को गिरने में जैसे देर नहीं लगती, वैसे ही उपर्युक्त तीनों आधारों में से एक के भी दुर्बल होने से स्वास्थ्य खण्डित हो जाता है। अतः तीनों आधारों को सुगठित बनाये रखना चाहिए।

आहार के पुनः तीन भाग हैं– भोजन, जल एवं वायु। भोजन के विभिन्न द्रव्यों में काबोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, कैलोरी की मात्रा एवं मुख्य विटामिन निम्नवत् हैं[७०]:–

खाद्य द्रव्य	कार्बोज	प्रोटीन	वसा	कैलोरी प्रति औंस	मुख्य विटामिन
बाजरा	६७.१	११.६	५.०	१०२	ए, बी

६७. चाणक्य–सूत्र।

६८. चाणक्य नीति (अध्याय–२, श्लोक–१३)।

६९. चरक।

७०. संकलित।

प्रत्येक दिन की चर्या सम्यक् होनी चाहिए।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च।।[६३]

मनुष्य को ब्राह्म मुहूर्त अर्थात् पाँच घड़ी (२ घण्टे)[६४] रात्रि शेष रहते उठ जाना चाहिए। आवश्यक कार्य करके धर्म–अर्थ का चिन्तन, शरीर के रोगों का निदान और परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। **यदि ब्राह्म मुहूर्त्त में उठना सम्भव न हो तो उषा काल में अवश्य उठ जाएँ। सूर्योदय के पश्चात् उठने से तेज क्षीण होता है।**

महर्षि दयानन्द का परामर्श है कि "सदा स्त्री–पुरुष दश बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा चार बजे उठकर प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो, तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार–विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिससे परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें।"[६५]

उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को श्रम और विश्राम में सन्तुलन रखना चाहिए। कुछ लोग अतिवादी होते हैं। ऐसे लोग कुछ कार्य तो सिद्ध कर लेते हैं किन्तु दीर्घ **काल** में असफल हो जाते हैं। नीतिकार ने कहा है– **अति सर्वत्र वर्जयेत्**[६६] अर्थात् कभी अति नहीं करनी चाहिए। अति शयन, अति जागरण, अति भाषण, अति मौन, अति दान, अति लोभ, इन सबसे दूर रहना चाहिए। अपने ऊपर क्षमता के अनुरूप भार लेना चाहिए और

६३. मनुस्मृति (अध्याय–४, श्लोक–९२)।
६४. १ घड़ी अर्थात् २४ मिनट।
६५. संस्कार विधि (गृहाश्रम प्रकरण)।
६६. चाणक्य नीति (अध्याय–३, श्लोक–१२)।

अध्याय—७

उत्थान के उपाय

मन की साधना और योग साधना एक ही प्रणाली के दो नाम हैं। योगिराज कृष्ण ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।[६२]

अर्थात् दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार—विहार करने वाले, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले और यथायोग्य सोने—जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

साधना का उद्देश्य मनुष्य का व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और सार्वभौम उत्थान करना है। उत्थान के उपाय सबके लिए समान हैं, जो निम्नवत् हैं:—

(१) सम्यक् दिनचर्या
(२) सन्तुलित आहार
(३) रोग—निवारण
(४) योगासन व्यायाम
(५) पञ्च महायज्ञ
(६) षट्क सम्पत्ति
(७) पञ्च कोश विवेक
(८) श्रवण चतुष्टय
(९) भ्रान्ति—निवारण
(१०) अष्टाङ्ग योग

सम्यक् दिनचर्या

भोजन, निद्रा, श्रम, विश्राम, स्नान, व्यायाम, स्वाध्याय, उपासना आदि दृष्टियों से मनुष्य के कर्मों की इकाई २४ घण्टे का दिन है। अतः

६२. गीता (अध्याय—६, श्लोक—१७)।

होता है और अन्तः प्रेरणाओं का उदय होता है जो वास्तव में ईश–प्रेरणायें होती हैं। इन प्रेरणाओं के माध्यम से ही ईश्वर साधक को उस दिव्य पथ पर चलाता है जिसके लिए प्रार्थना की गई है कि–

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय।[६१]

(हे प्रभो! मुझे बुराई से भलाई, अन्धकार से प्रकाश और विनाश से कल्याण की ओर ले चलिए।)

६१. बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय–१, ब्राह्मण–३, श्लोक–२८)।

मन तीनों कालों से सम्बन्धित विषयों में दौड़ता और सङ्कल्प करता रहता है। चित्त से भूतकाल की वासनायें, स्मृतियाँ और संस्कार उभरते रहते हैं। अहङ्कार में आत्म–तोष की अपेक्षायें उठती–गिरती रहती हैं। बुद्धि इन सङ्कल्पों, संस्कारों और अपेक्षाओं पर चिन्तन, विश्लेषण एवं निश्चय करती रहती है। ये चारों तत्त्व अर्थात् मन–बुद्धि–चित्त–अहङ्कार जिस विचार पर केन्द्रित रहें, वह परिष्कृत हो जाता है। उसी को कार्यरूप देते रहना चाहिए।

हृदय की उर्वरा भूमि

पृथ्वीरूप भूमि चाहे जैसी हो, किन्तु हृदयरूप भूमि अत्यन्त उर्वरा है। इसमें अच्छे, बुरे, अमृतसम कल्याणकारी और विषसम विनाशकारी, सब प्रकार के विचार अंकुरित हो जाते हैं। अतः सावधान रहकर उत्तम विचारों का ही अंकुरण होने देना चाहिए।

कोई बुरा विचार मन में आये तो तत्काल 'दुरितानि परासुव', गायत्री–मन्त्र अथवा 'ओ३म्' का जाप करके उसे मन से निकाल देना चाहिए। यदि वह थोड़े समय मन में रुक जाए तो उसके अंकुरण का भय उत्पन्न हो जाता है। यदि अंकुरित हो जाए तो तत्काल विचार करके उखाड़ फेंकें; वह पौधा न बनने पाए। यदि पौधा बन जाए तो तपपूर्वक उखाड़ डालें; कहीं वृक्ष न बन जाए। वृक्ष बनने पर उसे उखाड़ना दुष्कर हो जाएगा। अतः ऐसा अवसर न आने दें। शयनकालीन मनन में अन्तःकरण को निरन्तर शुद्ध करते रहें।

समर्पण और अन्तःप्रेरणा

ईश्वर के विषय में कोई मनुष्य कुछ भी सोचे अथवा कुछ न सोचे, सत्य अविनाशी है जो कभी नहीं बदलता। **ईश्वर हमारा है; हमारे लिए नहीं है। संसार हमारे लिए है; हमारा नहीं है।**

मनुष्य अल्पज्ञ एवं अल्पशक्त है। उसकी समस्त कामनायें फलीभूत नहीं हो सकतीं। उसे चाहिए कि अपना पूर्ण पुरुषार्थ करके ईश्वर के प्रति आत्म–समर्पण करता रहे। इससे कामनाओं एवं तज्जनित तापों का शमन

इसमें शरीर की भाँति बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था नहीं होती। यह सदा एक–सा रहता है और इस कारण चिर युवा कहलाता है।

मङ्गल–नियम

प्रत्येक मनुष्य को अपना सुख–दुःख अनुभव होता है। यदि वह दूसरे के सुख–दुःख को भी ऐसे ही अनुभव करे तो संसार के अधिकांश दुःख दूर हो जायें। किन्तु वह दूसरे के सुख–दुःख का विचार किये बिना अपने लिए सुख चाहता है। दूसरे के हानि–लाभ अथवा मान–अपमान का विचार किए बिना अपने लिए लाभ एवं सम्मान चाहता है। दूसरे व्यक्ति भी अपने लिए ऐसा ही चाहते हैं। इसका परिणाम यह है कि परस्पर ईर्ष्या–द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता और वैर–विरोध होने से सभी दुःख और अशान्ति में हैं।

मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य को जाने, माने एवं तदनुसार कर्म करे। नास्तिकता को छोड़कर ईश–विश्वासी बने। अपने जैसी आत्मा सबमें देखे और अपने सुख–दुःख जैसे सबके सुख–दुःख माने। सभी मनुष्य इस प्रकार चिन्तन–मनन करते हुए एक–दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें– **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।**[५९] यही मङ्गलकारी नियम होगा। इसी मङ्गल–नियम के अनुसार सब मनुष्य अपने–अपने मन को साधें। सबके मन में मङ्गलकारी सङ्कल्प ही उठा करें। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह सबको ऐसी प्रेरणा, बुद्धि और शक्ति प्रदान करे।

विचार कर्म का पिता

साधक को ध्यान रखना चाहिए कि विचार कर्म का पिता होता है। पहले विचार का उदय होता है; तत्पश्चात् कर्म का विकास होता है। विचार बीज है; कर्म वृक्ष है। नीतिकार ने भी कहा है– **मन्त्रमूलो विजयः।**[६०] मन्त्र अर्थात् विचार उत्तम होने से विजय अर्थात् कार्य–सिद्धि होती है। जैसा विचार है वैसा कर्म होगा; जैसा कर्म चाहें वैसा विचार करें।

---

५९. यजुर्वेद (अध्याय–३६, मन्त्र–१८)।
६०. आचार्य बृहस्पतिः।

हृदय में वास

मन का वास शरीर में किस स्थान पर है, इसे लेकर विद्वानों के निम्नलिखित मत हैं:–

१. मन का वास हृदय में है।

२. मन का वास तो हृदय में है किन्तु हृदय मस्तक में है, इस प्रकार मन का वास मस्तक में है।

३. मन विद्युत् की भाँति सम्पूर्ण शरीर में गतिमान् रहता है और किसी एक स्थान पर नहीं ठहरता।

४. मन जब विश्राम करता है तो हृदय में रहता है और जब कार्य करता है तो मस्तिष्क में रहता है।

विचाराधीन मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि मन का वास हृदय में है। वेद स्वतः प्रमाण है। अतः यह कथन निर्विवाद है। जहाँ तक हृदय का प्रश्न है, यह कहना सत्य नहीं कि वह मस्तक में है। वस्तुतः हृदय छाती अर्थात् दोनों स्तनों के बीच में है। यहीं पर हृदय में मन का वास है।

मन अन्तःकरण के चारों तत्त्वों अर्थात् मन–बुद्धि–चित्त–अहङ्कार का प्रतिनिधि है। इनमें बुद्धि का वास मस्तिष्क अर्थात् मस्तक में है; चित्त का वास हृदय में है; मन गतिमान् रहता है किन्तु उसका समकक्षीय अहङ्कार हृदयवासी है। इस प्रकार मन का वास हृदय में सिद्ध होता है।

चिर युवा

मन अत्यन्त वेगवान् है। यह समस्त पदार्थों में सर्वाधिक गतिवाला है। आलंकारिक शैली में ईश्वर को भी गतिमान् बताया गया है। किन्तु सर्वव्यापक होने से ईश्वर वास्तव में गतिमान् नहीं है। उसे तो इस कारण गतिमान् कहा गया क्योंकि वह समस्त गतियों का स्वामी है। मन एक से दूसरे विषय में आता–जाता है अर्थात् वास्तव में गतिमान् है। इसकी गति की तुलना किसी अन्य गति से नहीं की जा सकती, अतः यह सर्वाधिक गतिमान् है। गतिमान् होने के साथ–साथ यह चिर युवा भी है।

है कि वह रथी को शीघ्र पहुँचा दे अथवा विलम्ब कर दे; सुखपूर्वक ले चले अथवा दुःख में डाल दे; निर्बल घोड़ों को पुचकार कर कार्य कर ले अथवा बलिष्ठ घोड़ों को भी थका डाले।

मन जड़ अवश्य है, किन्तु अद्भुत लक्षणों से युक्त है। यह जिन विषयों में बार–बार जाता है, उनके प्रति इसमें वासना उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप यह प्रायः उन विषयों में लगा रहता है और जीवात्मा भी इन्द्रियों सहित उन्हीं विषयों में लगने को विवश हो जाता है। उदाहरणार्थ मद्यपान का व्यसनी मन जीवात्मा के लिए दरिद्रता, अपमान एवं दुःख उत्पन्न करके भी मद्यपान से नहीं हटता। सत्यमार्ग का अभ्यस्त मन अकेला रहने पर भी जीवात्मा को सत्य से विचलित नहीं होने देता। धन, परिवार एवं आमोद–प्रमोद में लगने वाला मन मोक्ष को समझकर भी जीवात्मा को उधर नहीं जाने देता। ईश्वर के प्रेम में लगा मन जीवात्मा को ध्यान, समाधि, ईश–साक्षात्कार और मोक्ष की प्राप्ति करा देता है।

मन जीवात्मा का साधन है। यह सध जाए तो जीवात्मा के पीछे चलता है और उसके सङ्कल्पानुसार चेष्टा करके उसे उच्च स्थिति की प्राप्ति करा देता है। किन्तु इसे साधना अति कठिन है। इस कारण अधिकांश मनुष्य मन के पीछे चलते दिखायी देते हैं। साधकों के लिए अभीष्ट है कि मन को वश में करके आत्मा के पीछे और आत्मा को परमात्मा के पीछे रखें।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।[५८] अर्थात् मन को वश में करने के दो उपाय हैं–अभ्यास और वैराग्य। वैराग्य के द्वारा मन को विषयों से हटाया जाता है और अभ्यास द्वारा इसे ईश्वर की ओर लगाया जाता है। वैराग्य के मुख्य साधन हैं–स्वाध्याय, सत्सङ्ग एवं भजन। अभ्यास के मुख्य साधन हैं–आसन, प्राणायाम एव ध्यान। मन की साधना के लिए दोनों आवश्यक हैं।

---

५८. योग दर्शन (पाद–१, सूत्र–१२)।

हैं, किन्तु वे इनमें से किसी के समान ज्ञानी नहीं होते। भला उन्हें अच्छे–बुरे मार्ग की क्या समझ! बुरे मार्ग पर भी दौड़ सकते हैं। उन्हें बुरे मार्ग पर जाता देख कोई कह सकता है कि घोड़ों को इतना निर्बल बना दो कि वे रथ को दौड़ा न सकें। किन्तु ऐसा करने पर यात्रा तय नहीं होगी। अतः सही समाधान यह होगा कि घोड़े बलवान् हों और नियन्त्रण में रहें।

इसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ बलिष्ठ होनी चाहिए। नेत्रों पर संयम रखने के लिए नेत्रों को फोड़ लेना बुद्धिमानी नहीं है। भला नेत्रों का क्या दोष? दोष तो मन में होता है। नेत्रों में दूर तक देखने और देर तक कार्य करने की क्षमता होनी चाहिए। साथ ही नेत्रों में इधर–उधर देखने की चञ्चलता न हो। अतः मन द्वारा नेत्रों पर संयम रखा जाए। इसी प्रकार अन्य चारों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँचों कर्मेन्द्रियाँ भी बलिष्ठ एवं संयत रहें।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।।[५७]

जितेन्द्रिय व्यक्ति का यह लक्षण है कि उसके देखने, सुनने, छूने, खाने एवं सूँघने में चाहे अच्छा पदार्थ आये अथवा बुरा, उसे हर्ष वा ग्लानि नहीं होती। इस प्रकार सब मनुष्यों को चाहिए कि इन्द्रियों पर संयम रखकर जितेन्द्रिय बनें।

रथी और सारथि

आत्मा रथी अर्थात् रथ का स्वामी है। विचाराधीन मन्त्र में मन को सारथि कहा गया है। जैसे सारथि घोड़ों को लगाम द्वारा इधर–उधर ले जाता है, वैसे मन इन्द्रियों को भले–बुरे मार्गों पर ले जाता है। फलस्वरूप जीवात्मा उन्हीं भले–बुरे मार्गों पर चलता है। प्रश्न उठता है कि मन जड़ और जीवात्मा चेतन है। भला जड़ मन चेतन जीवात्मा को कैसे चला सकता है? वस्तुतः रथ का स्वामी सारथि को आदेश देता है कि अमुक स्थान पर ले चलो। सारथि ऐसा करता भी है। किन्तु सारथि के हाथ में

५७. मनुस्मृति (अध्याय–२, श्लोक–७३)।

अध्याय–६

स्वाभाविक सारथि

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।[55]

शब्दार्थः– (यत्) जो मन (सुषारथि) जैसे सुन्दर चतुर सारथि गाड़ीवान् (अश्वान् इव) लगाम से घोड़ों को सब ओर चलाता है वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियों को (नेनीयते) शीघ्र–शीघ्र इधर–उधर घुमाता है और (अभीशुभिः) जैसे रस्सियों से (वाजिन इव) वेग वाले घोड़ों को सारथि वश में करता वैसे नियम में रखता (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में प्रेरक वा वृद्धादि अवस्था रहित और (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान् है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसङ्कल्पम्) मङ्गलमय नियम में इष्ट (अस्तु) होवे।।

सब जीवात्मा मूलतः एक समान हैं। शरीरों में भी अधिक भेद नहीं है। तथापि लोगों के जीवन एक–दूसरे से भिन्न हैं। यह भेद मन के कारण है। चित्त के संस्कार जैसी प्रेरणा करते हैं, अहङ्कार जिस व्यवहार में सन्तोष पाता है, बुद्धि जैसा विश्लेषण करती है और मन के जैसे सङ्कल्प होते हैं, वैसा ही जीवन बन जाता है। इस प्रकार अन्तःकरण वा मन जीवन रूपी रथ का स्वाभाविक सारथि है।

इन्द्रियाँ घोड़े हैं

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।[56]

अर्थात् शरीर रथ, इन्द्रियाँ घोड़े, मन लगाम, बुद्धि सारथि और आत्मा रथी है।

घोड़े शारीरिक बल में रथी और सारथि दोनों से अधिक हो सकते

५५. यजुर्वेद (अध्याय–३४, मन्त्र–६)।
५६. कठोपनिषद् (वल्ली–३, श्लोक–३)।

अज्ञानी व्यक्ति को ज्ञानी बनाना सरल है, मिथ्याज्ञानी को ज्ञानी बनाना कठिन है। ये सम्प्रदाय अपने मत को लुभावने ढंग से प्रस्तुत करके लोगों को मिथ्याज्ञानी बना देते हैं। इस कारण वेद–ज्ञान संसार में उपलब्ध होने पर भी उसका सम्यक् प्रसार नहीं हो पा रहा है। अतः सत्य और सुख की अभिवृद्धि हेतु वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रचार अभियान की आवश्यकता है। ऐसा करके वैदिक विद्वान् अपने साथ अन्य मनुष्यों का जीवन भी उत्तम बनाने की चेष्टा करें।

वेद के प्रचार हेतु निम्नलिखित बातों की विशेष आवश्यकता हैः–

१. प्रचार का आरम्भ आचार से होता है। अतः प्रचारक लोग अपना विचार दृढ़, आचार शुद्ध एवं व्यवहार मृदु रखें।

२. प्रचार कोई प्रदर्शन नहीं अपितु सिद्धान्त को जीने का दूसरा नाम है। इसके लिए मानव–मात्र एवं प्राणि–मात्र से प्रेम करें। आवश्यक होने पर गलत सिद्धान्तों का विरोध अवश्य करें, किन्तु व्यक्ति विशेष से द्वेष न करें।

३. वेद के प्रचार का तात्पर्य है लोगों के ज्ञान में वृद्धि करके उन्हें उत्तम मनुष्य, विद्वान्, न्यायकारी, शिल्पी, सद्व्यापारी और सद्गृहस्थ बनाना। इसके लिए अनेक प्रकार के कार्य करने अपेक्षित हैं। अतः जो कार्य अपने योग्य हो, वही करें। अति उत्साह में ऐसा कार्य हाथ में न लें जो अविद्या, पाखण्ड वा दुःख को जन्म दे।

४. वेद के ज्ञान को अनेक देशों में अनेक भाषाओं के माध्यम से पहुँचाने की आवश्यकता है। अतः सत्य शास्त्रों के पढ़ाने वाले लोग वह भाषा, माध्यम एवं साधन अपनायें जो स्थानीय व्यक्तियों को प्रिय हों।

५. परस्पर एकजुट रहें। **संगच्छध्वं संवदध्वम्।**[५४] अर्थात् मिलकर चलें, प्रीतिपूर्वक चर्चा करें। सत्यमार्गी होने के कारण वेद का प्रचार अपेक्षाकृत कम धन एवं शक्ति से हो सकता है, किन्तु परस्पर मेल आवश्यक है।

---

५४. ऋग्वेद (मण्डल–१०, सूक्त–१९१, मन्त्र–२)।

आस्तिक–नास्तिक

कोई व्यक्ति आस्तिक है अथवा नास्तिक, यह प्रमाण पर आधारित तथ्य है, कथन मात्र पर नहीं। अनेक व्यक्ति ईश्वर के स्वरूप को नहीं जानते किन्तु स्वयं को आस्तिक बता देते हैं। उनके कथन को कसौटी पर कसने के बाद ही स्वीकार करना चाहिए।

ईश्वर सर्वव्यापक है; सर्वत्र एक–समान रहता है; किसी स्थान में विशेष रूप से नहीं रहता। जो व्यक्ति ईश्वर की सर्वव्यापकता को नहीं समझता और उसकी उपस्थिति की मनमानी कल्पना करता है, वह स्वयं को आस्तिक बताते हुए भी वास्तव में आस्तिक नहीं है।

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है; स्वयं रचना में नहीं आता। इसे जाने बिना जो व्यक्ति उसके जन्म, अवतार, भौतिक दर्शन और चमत्कार की कल्पनायें करता है, वह स्वयं को आस्तिक कहता हुआ भी वास्तव में आस्तिक नहीं है।

मनुष्य ईश्वर के विषय में न तो पूर्ण ज्ञानी है और न पूर्ण अज्ञानी। उसे ईश्वर का अल्प ज्ञान होता है। ज्ञान जितना भी हो, मिथ्या नहीं अपितु वेद पर आधारित होना चाहिए। वेद के आशय के विपरीत ईश्वर के स्वरूप का मनमाना वर्णन करना वेद की निन्दा के अन्तर्गत आता है। महर्षि मनु के अनुसार वेद की निन्दा करने वाला आस्तिक नहीं कहलाता–**नास्तिको वेदनिन्दकः**।[५३]

वेद का प्रचार

वेदादि सत्य शास्त्रों को समझने से विवेक की प्राप्ति होती है और धर्म का ज्ञान एवं पालन होता है। इससे मनुष्य का जीवन समृद्ध, सुखमय और शान्त होता है। सब मनुष्यों को वेद–ज्ञान की आवश्यकता है किन्तु संसार में सैकड़ों सम्प्रदाय फैले हुए हैं जो वेद–विरुद्ध, ज्ञान–विरुद्ध, सत्य विरुद्ध और ईश्वर की वास्तविक उपासना के विरुद्ध हैं। इन सम्प्रदायों ने वेद–ज्ञान के प्रसार को इस प्रकार रोक रखा है जैसे अनेक बादल मिलकर सूर्य की चमक को रोक लेते हैं।

५३. मनुस्मृति (अध्याय–१, श्लोक–१३०)।

(ईश्वर सबका उत्पत्तिकर्त्ता और महाकीर्त्तिकर है; उससे विमुख मत होओ; वह कभी शरीर धारण नहीं करता; उसकी कोई प्रतिमा नहीं है।)

(३) **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।[४७]

(वेद की वाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी स्त्री–पुरुषों के पढ़ने और सुनने के लिए है।)

(४) **उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।**
नमो भरन्त एमसि।।[४८]

(सभी मनुष्य प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल सच्चे मन से नम्रतापूर्वक ईश्वर की उपासना किया करें।)

(५) **अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।**
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।।[४९]
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।[५०]

(पुत्र पिता के व्रतवाला और माता के मनवाला हो; पति और पत्नी परस्पर शान्तिदायिनी वाणी बोलें; भाई और बहिन एक–दूसरे से द्वेष न करें; परिवार के सभी लोग शिष्ट, एकव्रती और अविरोधी हों।)

महर्षि मनु के अनुसार– **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।**[५१] अर्थात् वेद धर्म का आधार है। वेद में जो धर्म–अधर्म बताया गया है, सब मनुष्यों के लिए वही धर्म–अधर्म है। **न वेदबाह्यो धर्मः।**।[५२] अर्थात् धर्म वेद से बाहर नहीं होता। वेद के अधीन रहना ही मानव धर्म है।

---

४७. यजुर्वेद (अध्याय–२६, मन्त्र–२)।
४८. सामवेद (मन्त्र–१४)।
४९, ५०. अथर्ववेद (काण्ड–३, सूक्त–३०, मन्त्र–२, ३)।
५१. मनुस्मृति (अध्याय–१, श्लोक–१२५)।
५२. चाणक्य–सूत्र।

अर्थात् चित्त में जितने वैदिक संस्कार आ चुके वे सङ्कल्प का रूप ले लेते हैं; शेष संस्कार आगे प्राप्त होंगे। अरे केन्द्र और परिधि को जोड़ते हैं; वेद का ज्ञान ईश्वर और ब्रह्माण्ड में सम्बन्ध स्थापित किये हुये है। पहिया और अरे पृथक्–पृथक् होते हुए भी सामञ्जस्य के कारण एक प्रतीत होते है। इसी प्रकार वेद मन से पृथक् होते हुए भी इसमें सुखपूर्वक प्रतिष्ठित हैं।

वेद अर्थात् सब पदार्थों से सम्बन्धित ज्ञान मन में ऐसे स्थित है जैसे धागे में पिरोकर मणियों की माला बन जाती है। माला में सब मणियाँ पृथक्–पृथक् हैं किन्तु पहनने के समय सम्पूर्ण माला एक नजर आती है। ज्ञान में भी पृथक्–पृथक् विषय हैं, जैसे– भौतिक विज्ञान, युद्धकला, चित्रकला, भवन–निर्माण, भोजन–कला, ओषधि–विज्ञान, मनोविज्ञान, अध्यात्म–विज्ञान, व्यापार, कृषि, वनस्पति–विज्ञान, राजनीति शास्त्र, संगीत, आदि। किन्तु इन विषयों का ज्ञानी व्यक्ति जब व्यवहार करता है तो समस्त विषयों का सार एक साथ उपस्थित हो जाता है।

वेद ही मानवधर्म–ग्रन्थ

वेद सब मनुष्यों का धर्मग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थ भिन्न–भिन्न समुदायों के हैं। वेद में किसी देश, जाति वा सम्प्रदाय के लिए नहीं वरन् मनुष्य–मात्र के लिए शिक्षायें दी गई हैं। कुछ प्रमुख शिक्षायें निम्नलिखित हैं:–

(१) **अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।**
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्।।[४५]

(ज्ञानस्वरूप, हितकर्त्ता, सुखप्रदाता, ऐश्वर्यस्रोत और सबका इष्टदेव परमात्मा सुख–दु:ख के प्रत्येक काल में पूजनीय है।)

(२) **न तस्य॑ प्र॒तिमा॑ ऽ अ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यश॑:।**
हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ ऽ इत्ये॒ष मा मा॑ हि॒ꣳसीदित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒त इत्ये॒ष:।।[४६]

४५. ऋग्वेद (मण्डल–१, सूक्त–१, मन्त्र–१)।
४६. यजुर्वेद (अध्याय–३२, मन्त्र–३)।

वेद मन में प्रतिष्ठित

परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। उसमें स्वभाव से ही सम्पूर्ण ज्ञान है। इस कारण उसके ज्ञान में न वृद्धि होती है, न ह्रास होता है और न ही कोई परिवर्तन होता है। किन्तु जीवात्मा ज्ञान–स्वरूप नहीं है। वह ज्ञान का अर्जन करता, पुरुषार्थ से उसमें वृद्धि करता और अभ्यास से उसे बनाये रखता है। यदि जीवात्मा से प्रमाद हो जाए तो यह ज्ञान घट भी जाता है।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए जीवात्मा अन्तःकरण का प्रयोग करता है। वह ज्ञान की इच्छा से मन को प्रेरित करके बुद्धि से विषय को समझकर चित्त में स्मृति और संस्कार के रूप में ज्ञान का सञ्चय करता जाता है। आगे पुनः नये–नये विषयों को समझकर उनकी स्मृतियाँ चित्त में संग्रह करता जाता है। इस प्रकार चित्त में ज्ञान का भण्डार हो जाता है। इससे ज्ञानी विद्वान् तो जीवात्मा बनता है किन्तु ज्ञान प्रतिष्ठित रहता है चित्त अर्थात् मन में।

क्या वेद जीवात्मा में प्रतिष्ठित नहीं हो सकते? वस्तुतः जीवात्मा चेतन है। उसका एक स्वाभाविक शरीर है। इसमें वृद्धि अथवा ह्रास सम्भव नहीं है। यदि इसमें वेद प्रतिष्ठित होते तो जीवात्मा स्वभाव से ज्ञानी होता जो कि वह नहीं है। जीवात्मा न स्वभाव से ज्ञानी है और न स्वभाव से अज्ञानी है। यदि वह स्वभाव से ज्ञानी होता तो उसे ज्ञानी बनने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता न पड़ती। यदि वह स्वभाव से अज्ञानी होता तो बड़े से बड़ा पुरुषार्थ करके भी ज्ञानी नहीं बन सकता था। वह कर्म से ज्ञानी और कर्म से अज्ञानी है। अतः वेद की प्रतिष्ठा जीवात्मा के स्वाभाविक शरीर में नहीं अपितु सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन में है।

रथ के अरों की भाँति

मन में वेद ऐसे प्रतिष्ठित हैं जैसे रथ के पहिये में अरे लगे होते हैं। अरे घूमते हैं तो पहिया घूमता है; वेद की प्रेरणा जागती है तो मन वैदिक कर्म में लग जाता है। पहिया रुकता है तो अरे रुक जाते हैं; मन

सामवेद में १८७५ मन्त्र और अथर्ववेद में २० काण्ड, ७६० सूक्त, ५६७७ मन्त्र हैं। इस प्रकार चारों वेदों में मिलाकर २०३७६ अथवा २०४०७ मन्त्र हैं। संख्या का यह भेद बड़ा तो नहीं है किन्तु विद्वानों को शोध करके इसे यथाशीघ्र दूर करना चाहिए।

मन्त्रों में स्वरों का बड़ा महत्त्व है। नीचे स्वर वा ऊँचे स्वर में बोलने से शब्दों का अर्थ बदल जाता है। इस कारण वेद का पठन–पाठन गुरु द्वारा बोलकर और शिष्य द्वारा सुनकर होता रहा। जो सुनकर जानी जाए, वह श्रुति कहलाती है। इस कारण वेद का दूसरा नाम श्रुति भी है। आधुनिक युग में पुस्तकों के माध्यम से पठन–पाठन चलता है। किन्तु वेद की वास्तविक शिक्षा आज भी लेख के बजाए गुरु के मुख से ही प्राप्त की जाती है।

वेद में तीन विद्यायें हैं– ज्ञान, कर्म एवं उपासना। चारों वेदों में ज्ञान, चारों में कर्म और चारों में उपासना भी हैं। तीन विद्याओं के कारण वेद को वेदत्रयी कहते हैं। ऋग्वेद में पद्य, यजुर्वेद में गद्य, सामवेद में गीति और अथर्ववेद में तीनों हैं। इस दृष्टि से भी वेद को विद्यात्रयी कहा जाता है।

व्यास ने वर्गीकरण नहीं किया

वेद का आविर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ। इसके समस्त मन्त्र सृष्टि के आदि से हैं। विचाराधीन पाँचवें मन्त्र में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को पृथक्–पृथक् गिनाया गया है।

महाभारत काल में हुए महर्षि व्यास के विषय में कहा जाता है कि प्रारम्भ में समस्त वेद परस्पर मिले हुए थे; ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि का पृथक् विभाजन नहीं था; व्यास जी ने उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया और इसी कारण उनका नाम व्यास पड़ा। किन्तु यह धारणा सत्य नहीं है क्योंकि वेदों का वर्गीकरण प्रारम्भ से है। महर्षि व्यास ने यह वर्गीकरण नहीं किया है।

अध्याय–५

वेद का अधिष्ठान

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।[44]

शब्दार्थः– (यस्मिन्) जिस मन में (रथनाभौ इव अराः) जैसे रथ के पहिये के बीच के काष्ठ में अरे लगे होते हैं वैसे (ऋचः) ऋग्वेद (यजूंषि) यजुर्वेद (साम) सामवेद (प्रतिष्ठिता) सब ओर से स्थित और (यस्मिन्) जिसमें अथर्ववेद स्थित है (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम्) समग्र (चित्तम्) सर्व पदार्थसम्बन्धी ज्ञान (ओतम्) सूत में मणियों के समान संयुक्त है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसङ्कल्पम्) कल्याणकारी वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रचाररूप सङ्कल्प वाला (अस्तु) हो।।

विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे और विद विचारणे, इन चार धातुओं से 'वेद' शब्द बना है। वेद से तात्पर्य है (१) जिसके पढ़ने से यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो; (२) जिसको पढ़कर लोग विद्वान् हों; (३) जिससे सुख लाभ हो; (४) जिससे सत्य–असत्य का विचार प्राप्त हो।

चार वेद तीन विद्यायें

वेद चार हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेद अपौरुषेय हैं। सृष्टि के आदि में समाधि अवस्था में ईश्वर के उपदेश के रूप में ऋग्वेद का साक्षात्कार अग्नि ऋषि को, यजुर्वेद का वायु ऋषि को, सामवेद का आदित्य ऋषि को और अथर्ववेद का अङ्गिरा ऋषि को हुआ। तत्पश्चात् इन ऋषियों ने ब्रह्मा नामक ऋषि को चारों वेद पढ़ाये और गुरु–शिष्य परम्परा से वेद का ज्ञान अगली पीढ़ियों को प्राप्त होता आया है।

ऋग्वेद में १० मण्डल, १०२८ सूक्त, एक गणना से १०५५२ और दूसरी गणना से १०५८० मन्त्र; यजुर्वेद में ४० अध्याय, १९७५ मन्त्र;

४४. यजुर्वेद (अध्याय–३४, मन्त्र–५)।

संसार में **सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।**[४२] अर्थात् सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख बारी–बारी से आते रहते हैं। दुःख तीन प्रकार के हैं– आध्यात्मिक (स्वयं के कारण प्राप्त दुःख), अधिभौतिक (दूसरे प्राणियों के कारण प्राप्त दुःख) और आधिदैविक (प्राकृतिक प्रकोप के कारण प्राप्त दुःख)। तीनों प्रकार के दुःखों की पूर्ण निवृत्ति मोक्ष में ही सम्भव है। **अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः।**[४३] यह मोक्ष अत्यन्त पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। यज्ञ, अध्ययन, दान आदि सांसारिक कर्मों को करना पुरुषार्थ कहलाता है। ईशोपासन, ध्यान, समाधि आदि निःस्वार्थ एवं पारमार्थिक कर्मों को करना अत्यन्त पुरुषार्थ है। मन्त्र की प्रेरणा है कि कल्याण–मार्ग के सभी पथिक अत्यन्त पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त करें। अतः हमारा योगयुक्त चित्त मोक्षरूप सङ्कल्प वाला हो।

४२. महाभारत (व्यास युधिष्ठिर से)।

४३. सांख्य दर्शन (अध्याय–१, सूत्र–१)।

साधना–पथ पर चलना धारा के विरुद्ध तैरने के समान है। इसके लिए केवल व्यक्तिगत क्षमता होना पर्याप्त नहीं। **व्यक्तिगत क्षमता से मनुष्य आत्म–बलिदान तो कर सकता है, समाज–सुधार नहीं कर सकता। सुधार हेतु आवश्यक है कि धारा को भी सुधरने का अवसर दिया जाए** ताकि वह विपरीत तैरने को मूर्खता का नाम न दे। इसके लिए एक शाश्वत नीति है–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।।[४०] अर्थात् सुखी मनुष्यों के प्रति मित्रता की दृष्टि रखें, ईर्ष्या की नहीं; दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा का भाव रखें, घृणा का नहीं; पुण्यात्माओं के प्रति हर्ष का भाव रखें, निन्दा का नहीं; पापात्माओं के प्रति उपेक्षा की दृष्टि रखें, मित्रता वा शत्रुता की नहीं। तदनुरूप चलने से साधना कठिन होते हुए भी सफल होती है।

मोक्ष का सङ्कल्प

वैदिक संस्कृति के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। **उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः।।**[४१] अर्थात् मोक्ष की सर्वोत्कृष्टता के कारण वेद इसका प्रतिपादन करता है। तदनुसार मानव जीवन के चार पुरुषार्थ निश्चित किये गये हैं–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। मनुष्य का परम कर्त्तव्य है कि वह इन चारों की प्राप्ति करे।

वर्तमान समय में लोग मोक्ष को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, जो उनके उथले ज्ञान का द्योतक है। वस्तुतः प्रकृति सत् (अस्तित्व वाली), जीव सत् एवं चित् (अस्तित्व एवं चेतना वाला), और ईश्वर सत्, चित् एवं आनन्द (अस्तित्व वाला, चेतन एवं आनन्दस्वरूप) है। इस प्रकार जीव का सारा संघर्ष आनन्द के लिए है जो संसार अवस्था में कुछ–कुछ और मोक्ष में भरपूर प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति सर्वाधिक कठिन भी है क्योंकि यह सम्पूर्ण सेवा, त्याग एवं तपस्या के बाद प्राप्त होता है। किन्तु सर्वोच्च होने के कारण मन में इसी की प्राप्ति का सङ्कल्प रखना अभीष्ट है।

४०. योग दर्शन (पाद–१, सूत्र–३३)।
४१. सांख्य दर्शन (अध्याय–१, सूत्र–५)।

ये सातों मिलकर जीवन को धारण करते हैं, अतः सप्तहोता कहलाते हैं। ५. पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश, ये पाँच जड़ तत्त्व हैं जिनसे शरीर बना है। जीवात्मा शरीर का स्वामी है। मन जीवात्मा का साधन है। इन सात के मिलने से कार्य होते हैं, अतः ये सप्तहोता कहलाते हैं।

वैदिक संस्कृति में वैचारिक स्वाधीनता है। अतः विचारशील व्यक्ति स्वविवेकानुसार निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सप्तहोता कौन हैं। समय एवं परिस्थिति के अनुरूप उत्तर बदल भी सकते हैं।

यज्ञ का विस्तार

यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु।[३८] अर्थात् यज्ञ के तीन भाग हैं–देवपूजा, सङ्गतिकरण एवं दान। देवपूजा अर्थात् ईश्वर की उपासना, माता–पिता की सेवा, विद्वानों का आदर, अतिथि का सत्कार और पति–पत्नी द्वारा एक–दूसरे का प्रियाचरण यज्ञ का प्रथम भाग है। ये सब कार्य मन लगाकर करने से ही सत्कर्म बनते हैं। सङ्गतिकरण अर्थात् मिलकर चलना यज्ञ का द्वितीय भाग है। जैसे शरीर के विभिन्न अंगों में समन्वय होने से शरीर चलता है और मशीन के विभिन्न पुर्जों में तालमेल होने से मशीन चलती है, इसी प्रकार समस्त मनुष्यों में सङ्गतिकरण होने से समाज उन्नत, राष्ट्र समृद्ध एवं विश्व शान्तिसम्पन्न होता है। सङ्गतिकरण भी मन लगाकर करने से अभीष्ट फल देता है।

दान यज्ञ का तृतीय भाग है। दान अन्न, वस्त्र, भूमि, समय, श्रम, ओषधि, विद्या, प्राण आदि अनेक वस्तुओं का होता है। प्रत्येक मनुष्य के पास दान के लिए कुछ–न–कुछ अवश्य होता है। वह मन से दान करे, तभी कल्याण होता और शान्ति आती है। इस प्रकार मन द्वारा ही यज्ञ का विस्तार होता है।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।[३९] अर्थात् आत्म–कल्याण का मार्ग छुरे की धार पर चलने के समान कठिन है। यज्ञमय जीवन और

---

३८. निरुक्त।

३९. कठोपनिषद् (वल्ली–३, श्लोक–१४)।

ईश्वर अमृत है

ईश्वर, जीवात्मा और मन, इन तीनों को अमृत अर्थात् अमर बताया गया है। किन्तु केवल ईश्वर ही पूर्ण अर्थ में अमृत है। जीवात्मा कभी नष्ट तो नहीं होता किन्तु अनेक अवस्थाओं एवं परिवर्तनों से गुजरता है। कभी बन्ध में पड़ता है तो कभी मोक्ष में, कभी मनुष्य योनि में है तो कभी हीन योनियों में, कभी पाप में फँसता है तो कभी पुण्य में, कभी दुःख में पड़ता है तो कभी सुख में, कभी अविद्या से घिरा है तो कभी विद्या में है। इस प्रकार जीवात्मा ईश्वर की भाँति निर्विकार, पूर्ण एवं समरस नहीं है।

मन जड़ है। यह बनता एवं खण्डित होता है। यह कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं अपितु जीवात्मा का साधन और उसके अधीन है। इसे शरीर की तुलना में अमर कह दिया गया है अन्यथा यह तो सृष्टि एवं प्रलय से प्रभावित होने वाली वस्तु है।

ईश्वर निर्विकार एवं सच्चिदानन्द है; किसी परिवर्तन में नहीं आता और वृद्धि–ह्रास से परे है; स्वयं आनन्दस्वरूप है और जीवात्माओं को भी आनन्द देता है; नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है और कभी बन्धन में नहीं आता। इस प्रकार ईश्वर ही वास्तव में अमृत है। अतः सब मनुष्यों को अपना मन ईश्वर में ही लगाना चाहिए।

सप्त होता

सप्त होता कौन हैं:–

१. सात मनुष्य एक साथ बैठकर यज्ञ कर रहे हों तो मिलकर सप्त होता कहलाते हैं।

२. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जिह्वा एवं त्वचा), बुद्धि तथा अहङ्कार, ये सात मिलकर शरीर को चलाते हैं, अतः सप्तहोता कहलाते हैं।

३. दो आँखें, दो कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा, ये सात मिलकर ज्ञान प्राप्त कराते हैं, अतः सप्तहोता कहलाते हैं।

४. पाँच प्राण (प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान), जीवात्मा एवं अहङ्कार,

विचार नहीं उत्पन्न हुआ, वह ज्ञान का विषय नहीं बना। विचार उत्पन्न होते ही ईश्वर उस कर्म एवं उसके फल को तत्काल पूर्णतः जान लेता है। इस प्रकार ईश्वर त्रिकालज्ञ है। अन्य किसी को इस प्रकार पूर्ण ज्ञान नहीं होता है।

पौधे को देखकर उसकी भावी स्थिति को, परिश्रमी बालक को देखकर उसके अच्छे भविष्य को, व्यसनी व्यक्ति को देखकर उसके पतन को और परस्पर सन्तुष्ट दम्पति को देखकर अच्छी सन्तान को लोग बुद्धि से जान लेते हैं। बुद्धिमान् एवं अनुभवी विद्वान् इन्हें सामान्य लोगों की तुलना में सैकड़ों गुना अधिक जान लेते हैं। इसे तीसरी आँख से देखना कहते हैं। यह भी सीमित अर्थ में त्रिकालज्ञ होना कहलाता है। यह गुण जितना प्राप्त होता है, मन के ही द्वारा प्राप्त होता है।

वर्तमान में जीना

तीनों काल महत्त्वपूर्ण हैं; वर्तमान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। **कुछ लोग भूतकाल की सफलता में डूबकर वर्तमान का कार्य बिगाड़ लेते हैं अथवा बीती असफलता की चिन्ता में वर्तमान का लाभ खो बैठते हैं। कुछ लोग भविष्य की बड़ी कल्पना में वर्तमान की छोटी उपलब्धि गँवा देते हैं अथवा भविष्य की घबराहट में वर्तमान को बोझ बना लेते हैं।** यह कार्य–प्रणाली साधना के विपरीत है।

मन की साधना यह है कि वर्तमान की छोटी–छोटी त्रुटियाँ सुधारते हुए, एक–एक कार्य को सँवारते हुए, छोटे–छोटे दुःख सहन करते हुए और छोटे–छोटे सुखों का अर्जन करते हुए जीवन को सुखमय बनाया जाए। भूतकाल को स्मरण किये बिना वर्तमान और भविष्य सुरक्षित नहीं रहते; भविष्य की कल्पना से वर्तमान की योजनाओं में निखार आता है; जीवन जैसा भी हो, वर्तमान में जिया जाता है। **अतः सम्पूर्ण चिन्तन को छः भागों में विभाजित करके १ भाग भूतकाल, २ भाग भविष्यत् काल और ३ भाग वर्तमान पर केन्द्रित रखने चाहिए।**

गतिमान् रहते जो घटनायें घटती रहती हैं, मनुष्य उनका वर्गीकरण करता रहता है। यह वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं है, अपितु अल्पज्ञ जीवात्मा की व्यवस्था के लिए है और पूर्व–अपर की दृष्टि से सापेक्ष है।

ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। वह सम्पूर्ण सृष्टि को समरस देखता है। उसके लिए कुछ अज्ञात, नया अथवा पुराना नहीं है। वह स्वयं भी नया अथवा पुराना नहीं होता। वह काल से अप्रभावित, एकरस और आनन्द से परिपूर्ण है। इसी प्रकार मन भी नया अथवा पुराना नहीं होता। यह जीवात्मा के साथ मिलकर वर्तमान में कर्म करता है। किन्तु काल इतना गतिमान है कि मन जितने समय में सङ्कल्प एवं विकल्प करता है, उसमें से किस पल को वर्तमान कहें? वर्तमान कहते ही वह भूतकाल बन जाता है। एक ओर तो सब वर्तमान प्रतीत होता है और दूसरी ओर कुछ भी वर्तमान नहीं प्रतीत होता। काल के इस प्रवाह में वर्तमान सृष्टि के १ अरब ९६ करोड़ ८ लाख ५३ हजार १०१ वर्ष व्यतीत हो गये हैं और १०२वाँ वर्ष प्रचलित है।[३७]

जीवात्मा भूतकाल के अनुभव और भविष्य के फल को ध्यान में रखकर वर्तमान में कर्म करता है। इसके लिए तीनों कालों को पकड़कर अर्थात् समीकरण बनाकर चेष्टा करनी होती है। यह कार्य मन–बुद्धि–चित्त–अहङ्कार रूप अन्तःकरण चतुष्टय का अर्थात् मन का है। दूसरे शब्दों में, मन त्रिकाल–रमण करता है।

त्रिकालज्ञ कौन?

एक ओर तो भिन्न–भिन कालों में मिलाकर करोड़ों महात्माओं को त्रिकालज्ञ बताया गया है। दूसरी ओर कहा गया कि भविष्य का ज्ञान सम्भव ही नहीं है। ये दोनों कथन सत्य हैं और यह विषय रहस्य का है।

त्रिकालज्ञ होने का यह अर्थ लगाना कि अमुक व्यक्ति इतने वर्ष बाद उस स्थान पर उसके साथ जाकर यह कार्य करेगा, ठीक नहीं है। जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। अतः उसके मन में जिस कर्म का अभी

---

३७. यह गणना चैत्र शुक्ल पक्ष, विक्रम संवत् २०५६ की है।

अध्याय–४

त्रिकाल–रमण

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।[33]

शब्दार्थः– हे मनुष्यो! (येन) जिस (अमृतेन) अविनाशी परमात्मा के साथ युक्त होने वाले मन से (भूतम्) व्यतीत हुआ (भुवनम्) वर्तमान काल सम्बन्धी और (भविष्यत्) होने वाला (सर्वम् इदम्) यह सब त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परिगृहीतम्) सब ओर से गृहीत होता अर्थात् जाना जाता है (येन) जिससे (सप्त होता) सात मनुष्य होता वा पाँच प्राण छठा जीवात्मा और अव्यक्त सातवाँ ये सात लेने देने वाले जिसमें हो वह (यज्ञः) अग्निष्टोमादि वा विज्ञानरूप व्यवहार (तायते) विस्तृत किया जाता है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) योगयुक्त चित्त (शिवसङ्कल्पम्) मोक्षरूप सङ्कल्प वाला (अस्तु) होवे।।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः।[34]
काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।[35]
काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः।।[36]

अर्थात् सात दिन रूपी सात रश्मियों से सुसज्जित काल रूपी घोड़ा निरन्तर दौड़ रहा है। काल में मन, प्राण और वस्तुएँ समायी हुई हैं। तप, श्रेष्ठता और विद्या भी काल से परिपक्व होती है। काल प्रजाओं का और काल ही राजाओं का राजा है।

भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्

काल को भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् में बाँटा गया है। किन्तु काल तो अखण्ड है। इसका पृथक्–पृथक् विभाजन नहीं हो सकता। इसके

३३. यजुर्वेद (अध्याय–३४, मन्त्र–४)।

३४, ३५, ३६. अथर्ववेद (काण्ड–१९, सूक्त–५३, मन्त्र–१, ७, ८)।

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति।।[३२]

अर्थात् धर्म के आठ तत्त्व हैं। इनमें से यज्ञ, अध्ययन, दान और तपस्या तो अभिमान के वशीभूत होकर भी की जा सकती है; किन्तु सत्य, धैर्य, क्षमा और निर्लोभता सच्चे साधुओं के गुण हैं। इसी साधुता से मन में परमात्मा को जानने एवं पाने की इच्छा पैदा करें। मनन एवं चिन्तन द्वारा मन को उसी में लगाये रखें। यही मन, धन, समय और शक्ति का सर्वोत्तम सदुपयोग होगा।

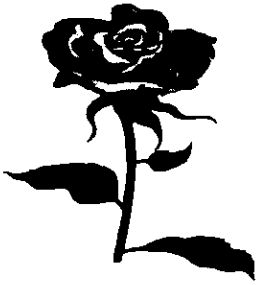

३२. हितोपदेश (मित्रलाभ, श्लोक–७, ८)।

है। यह तालमेल जितना अच्छा होगा, कार्य उतना ही अच्छा होगा। मन के तालमेल के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। **मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।**[३०] अर्थात् बुद्धि और मन को आपस में सीकर जीवन उज्ज्वल बनता है। **मनुष्य केवल मन से काम ले तो सफलता नहीं मिलती; केवल बुद्धि से काम ले तो शान्ति नहीं मिलती।** दोनों को मिलाकर काम में लगाये तो सफलता और शान्ति दोनों प्राप्त होती हैं।

परमात्मा की कामना करें

मन को जिस रस में लगा दें, यह उसी में बार–बार जाता है। मद्य के व्यसन में लगा मन कभी मद्य से तृप्त नहीं होता और बार–बार उसका सेवन चाहता है। धन के संग्रह में लगा मन धन से तृप्त नहीं होता और निरन्तर उसका अर्जन चाहता है। इसी प्रकार ईश्वर की भक्ति में लगा मन कभी उससे तृप्त नहीं होता और बार–बार उसका भजन चाहता है।

संसार के पदार्थों से ईश्वर अधिक सुखद, प्रिय और कामना करने योग्य है। तो फिर हम क्यों न उसी की कामना करें।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।[३१]

अर्थात् सारे वेद जिसे प्रापणीय बताते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए तप के उपदेश किये गये हैं, जिसकी कामना में ब्रह्मचर्य की सार्थकता है, वह तत्त्व परमात्मा है और उसका नाम 'ओ३म्' है। ईश्वर की कामना करने से हम अशान्ति में नहीं पड़ेंगे और अन्यों को दुःख देने से भी बचेंगे। उसकी कामना साधुता की स्थिति में होती है। साधुता का वास धर्म के आन्तरिक तत्त्वों में है; बाह्य तत्त्व अनिश्चित और गौण हैं।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।

---

३०. अथर्ववेद (काण्ड–१०, सूक्त–२, मन्त्र–२६)।
३१. कठोपनिषद् (वल्ली–२, श्लोक–१५)।

मन में लज्जा भी होती है जो कर्म का आन्तरिक प्रमाण है। अच्छा कार्य करते समय मन में उत्साह, शान्ति और आनन्द होता है। इसके विपरीत बुरा कार्य करने पर मन में ग्लानि, लज्जा एवं भय व्याप्त हो जाता है। किसी ने देखा तो नहीं, अब क्या होगा, कैसे बचाव करूँ, इत्यादि भावनायें उत्पन्न होती हैं। बुरा काम करके कुछ लोग पकड़ में नहीं आते और छिपे रहते हैं। यह छिपना भी लज्जा का ही एक रूप है। मन जितना पवित्र होता है, मनुष्य उतना ही लज्जावान् होता है। लज्जा व्यक्तित्व का अंग है और मन में वास करती है।

नाश रहित

मन आत्मा के समान अमर तो नहीं, तथापि अत्यन्त दीर्घजीवी है। आत्मा प्रथम शरीर के समय जो मन ग्रहण करता है, जन्मों और पुनर्जन्मों में उसके साथ वही मन बना रहता है। जब आत्मा मोक्ष में प्रवेश करता है, तब कहीं जाकर मन से उसका साथ छूटता है। इसमें एक, सौ, लाख वा अरबों–खरबों जन्म भी लग जाते हैं। इतने दीर्घ काल तक बने रहने के कारण इसे अमर कह दिया गया है। आत्मा के साथ रहते हुए इसे जल से गलाना, अग्नि से जलाना, वायु से सुखाना, शस्त्र से काटना अथवा किसी भी प्रकार नष्ट करना सम्भव नहीं है। इस सीमा तक यह नाश–रहित है।

इसके बिना कार्य नहीं

किसी कार्य के होने में आत्मा, मन और इन्द्रियों का योग आवश्यक है। यदि आत्मा कार्य करना चाहे तो उस कार्य का होना अथवा न होना शेष दोनों पर निर्भर करता है। यदि इन्द्रियाँ कार्य करने की स्थिति में न हों, जैसे वे निद्रा में होती हैं, किन्तु मन कार्य करना चाहे, तो कार्य हो सकता है। मन इन्द्रियों के बिना ही देखता, सुनता और दौड़ता रहता है, जिसे स्वप्न कहते हैं। किन्तु मन कार्य करने की स्थिति में न हो, जैसे वह सुषुप्ति वा अचेतावस्था में होता है, तो कार्य कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार किसी भी कार्य के लिए मन का तालमेल अनिवार्य

ईश्वर को धन्यवाद दिया कि आपकी कृपा से बच गया हूँ; आगे कभी चोरी न करूँगा। दूसरे ने सोचा कि कुछ नहीं बिगड़ा; अतः आगे भी चोरी करूँगा। पकड़े गये छः में से दो को दण्ड नहीं मिला। इनमें से एक ने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि फँसकर भी बच गया हूँ; आगे चोरी न करूँगा। दूसरे ने सोचा कि कुछ विशेष नहीं बिगड़ा; अतः चोरी करता रहूँगा। दो को मृदु दण्ड मिला। उनमें से एक ने सोचा कि सौभाग्यवश थोड़े दण्ड से बात समाप्त हो गई; आगे चोरी से बचूँगा। दूसरे ने सोचा कि दण्ड सहने योग्य मिला; आगे चोरी करने में बुराई नहीं है। शेष दो को कठोर दण्ड मिला। उनमें से एक ने सोचा कि चोरी से बहुत कष्टकारी फल मिला; आगे कभी न करूँगा। दूसरे ने सोचा कि पकड़े जाने से कष्ट मिला है; आगे इस प्रकार चोरी करूँगा कि पकड़ा न जाऊँ। जैसी वासना बनती है, आगे वैसे ही कर्म के सङ्कल्प उठते हैं। अतः चिन्तन–मनन से वासना को शान्त रखना चाहिए।

धैर्य और लज्जा

धर्म के दस लक्षणों में पहला है– धृति अर्थात् धैर्य। यह मन में वास करता है और उत्तम जीवन के लिए आवश्यक है। मनुष्य के सामने समस्यायें आती रहती हैं जिनसे भय एवं चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। जैसे–स्वास्थ्य खराब है, पता नहीं कब ठीक होगा; पुत्री का विवाह है, हाय इतना बड़ा काम कैसे होगा; रेलगाड़ी से जाना है, कहीं दुर्घटना न हो जाए, इत्यादि। इस प्रकार की स्थितियाँ मनुष्य के सामने एक–एक करके आती रहती हैं। यदि उसके मन में धैर्य है तो वह सुखी–शान्त बना रहता है। नहीं तो अशान्त एवं दुःखी हो जाता है। **जैसे पर्वतीय छोटी नदी में जल कम एवं शोर अधिक होता है, मैदान की बड़ी नदी में जल अधिक होने पर शोर कम हो जाता है और समुद्र में तो बड़े–बड़े जहाज बिना शोर किये समा जाते हैं, इसी प्रकार गुणवान् और विचारशील व्यक्ति में धैर्य अधिक होता है। ज्यों–ज्यों मन की साधना बढ़ती जाती है, त्यों–त्यों धैर्य भी बढ़ता जाता है।**

अनुभूति और वासना

अनुभूति और वासना भी चित्त में संगृहीत रहती हैं। **चित्तं वाव सङ्कल्पाद् भूयः**।[२६] अर्थात् अनुभूति सङ्कल्प से बढ़कर है। एक चिकित्सक अपने रोगी को अच्छी ओषधि देता है। रोगी के स्थान पर उसका पुत्र हो तो वह ओषधि तो वही देता है किन्तु उसकी चेतना, संवेदना और अनुभूति भिन्न होती है। अनुभूति की भिन्नता से उसका सङ्कल्प भी भिन्न हो जाता है। सामान्य रोगी को वह आशा बँधाता रहता है कि चिन्ता मत करो, शीघ्र स्वस्थ हो जाओगे। अपने पुत्र को देखकर चिकित्सक स्वयं भी चिन्तित हो जाता है।

अनुभूति की यह भिन्नता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावी रहती है। समय–पालन का महत्त्व सबको बताया जाता है। जो इसे अनुभव करते हैं वे आचरण में ले आते हैं। जो अनुभव नहीं करते उन पर कहने का प्रभाव नहीं पड़ता। धन के सम्बन्ध में मितव्ययी होना चाहिए; न कृपण और न अपव्ययी। यह शिक्षा सबको दी जाती है। जो इसे अनुभूति में लेते हैं, वे मितव्ययी बन जाते हैं; अन्यों पर कहने का प्रभाव नहीं पड़ता। पति–पत्नी को कर्त्तव्यों की अनुभूति रहे तो पूरक सहयोग के सङ्कल्प उठते हैं; केवल अधिकारों की अनुभूति हो तो प्रतिद्वन्द्विता के सङ्कल्प बनते हैं।

मन में जिस भावना का वास लम्बे समय तक रहे और वह सङ्कल्पों को प्रभावित करने लगे, वह वासना कहलाती है। वासना अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की होती है। अच्छे कार्य की प्रबल भावना जब उस अवस्था में पहुँच जाए कि मनुष्य उसे किये बिना चैन से न रह सके, तब वह वासना की कोटि में गिनी जाती है। यह अच्छी होने पर भी अशान्ति उत्पन्न करती है। इसलिए प्रत्येक वासना को बुरा कहा गया है।

बुरे कर्म की वासना का एक दृष्टान्त है। आठ व्यक्तियों ने पृथक्–पृथक् चोरी की। उनमें से दो पकड़ में न आये। इनमें से एक ने

२६. छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक–७, खण्ड–५, श्लोक–१)।

है। यह भेद शरीर का नहीं, ज्ञान का है और मन–बुद्धि की साधना से स्पष्ट होता है।

स्मृति का धारक

ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान की स्मृतियाँ चित्त में संगृहीत होती रहती हैं। इनमें से कुछ स्मृतियाँ बनी रहती हैं और शेष मिट जाती हैं। कुछ बातों की स्मृति तो बचपन से मृत्यु पर्यन्त बनी रहती है और कभी इतना भी स्मरण नहीं रहता कि कल क्या खाया था? यह सब अनुभूति की गहराई के कारण होता है। सुख–स्वास्थ्य की दृष्टि से स्मृति और विस्मृति दोनों आवश्यक हैं। स्मृति के बिना काम नहीं चल सकता। कौन मित्र है कौन शत्रु; किससे ऋण लिया किसको दिया; कौन सच्चा है कौन झूठा; क्या कार्य पूर्ण हुआ क्या अपूर्ण रहा? इन बातों की स्मृति सुख में साधक है।

प्रत्येक बात जीवन भर स्मरण रहे तो भी सुख नहीं मिल सकता। पड़ोसी ने थोड़ी निन्दा कर दी; रसोइए ने एक दिन नमक न डाला; पटाखों के शोर से निद्रा भंग हो गई; विवाह के समारोह में एक घण्टा व्यर्थ चला गया। इस प्रकार की बातें थोड़े समय बाद स्वयं विस्मृत हो जाती हैं। यदि इनकी स्मृति दीर्घकाल तक बनी रहे तो सुख में बाधक हो जाती है। अतः ईश्वरीय कृपा से कुछ स्मृतियाँ बनी रहती हैं और अधिकांश थोड़े समय बाद मिट जाती हैं।

स्मृति में मन का बड़ा योगदान है। जिस कार्य में मनुष्य का मन लगता है, उसकी स्मृति अधिक तीव्र होती है। जैसे–एक वस्त्र विक्रेता दर्जनों वस्त्रों की दरें एक बार सुनकर स्मरण कर लेता है, रसोइया विभिन्न पदार्थ बनाने की विधियाँ, विद्वान् शब्दों के अर्थ, और वकील संविधान की धारायें स्मरण कर लेता है। किन्तु अपने विषय से भिन्न वस्तुओं की स्मृति उन्हें नहीं रहती। इससे स्पष्ट है कि स्मृति का धारक भी मनुष्य का मन ही है।

विभिन्न स्वाद, और त्वचा के माध्यम से ठण्डे, गर्म, चिकने एवं खुरदरे स्पर्श मस्तिष्क तक पहुँचते हैं। ये अनुभव इन्द्रियों से प्रारम्भ होते हैं और मस्तिष्क में वास करती बुद्धि इन्हें मन की सहायता से जीवात्मा तक पहुँचाती है। केवल इन्द्रियों से अनुभव पूरा नहीं होता।

अनेक बार किसी चोट, रोग अथवा मानसिक आघात की स्थिति में मनुष्य की आँखों के सामने उसका परिचित व्यक्ति आने पर भी वह उसे पहचान नहीं पाता, उसके कान में शब्द बोले जाने पर भी वह अर्थ नहीं समझ पाता, उसे गन्ध वा स्वाद का ज्ञान नहीं हो पाता। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि में परस्पर तालमेल नहीं है। ज्ञान का साधन मन है और इसके बिना इन्द्रियाँ हमें किसी विषय का ज्ञान नहीं करा सकतीं।

ज्ञान की प्राप्ति में मन का कितना योगदान है, यह हम छात्रों के व्यवहार से समझ सकते हैं। अनेक छात्र आँखों के सामने पुस्तक रखे रहते हैं किन्तु उनका मन अध्ययन में न होने के कारण वे ज्ञानी नहीं बन पाते। इसके विपरीत मन लगाकर पढ़ने वाले छात्र थोड़े समय में अधिक सीख लेते हैं। कुछ छात्रों के माता–पिता उन्हें पढ़ाने का बहुत यत्न करते हैं किन्तु छात्र का मन न हो तो पिता क्या कर सकता है? ज्ञान तो मन के माध्यम से आता है। मन लगता है तो ज्ञान आता है, नहीं लगता तो नहीं आता। वस्तुतः ज्ञान इन्द्रियों से प्रारम्भ होकर मन–बुद्धि–चित्त–अहङ्कार के माध्यम से जीवात्मा तक पहुँचता है। इस प्रकार मन ज्ञान की प्राप्ति में मध्यस्थ है।

नेत्र, कण्ठ, अंगुलियाँ, पैर आदि अंग समान होने पर भी कुछ लोग विशेषज्ञ, चित्रकार, गायक, वैज्ञानिक, इञ्जीनियर वा नर्तक बन जाते हैं और अन्य लोग सामान्य रह जाते हैं। एक ही ब्रुश को सामान्य व्यक्ति चलाता है तो धब्बा बनता है और चित्रकार चलाता है तो कला का सृजन होता है। एक ही यन्त्र को सामान्य व्यक्ति छूता है तो केवल गर्मी का अनुभव करता है और इञ्जीनियर छूता है तो उसके गुण–दोष जान लेता

अध्याय–३

अन्तः ज्योति

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऽ ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संङ्कल्पमस्तु।।[२७]

शब्दार्थः– हे जगदीश्वर! आपके जताने से (यत्) जो (प्रज्ञानम्) विशेष कर ज्ञान का उत्पादक बुद्धिरूप (उत) और (चेतः) स्मृति का साधन (धृतिः) धैर्य स्वरूप (यत् च) और जो लज्जादि कर्मों का हेतु (प्रजासु) मनुष्यों के (अन्तः) अन्तःकरण में आत्मा का साथी होने से (अमृतम्) नाश रहित (ज्योतिः) प्रकाशकरूप (यस्मात् ऋते) जिसके बिना (किम् चन) कोई भी (कर्म) काम (न क्रियते) नहीं किया जाता (तत्) वह (मे) मुझ जीवात्मा का (मनः) सब कर्मों का साधनरूप मन (शिवसङ्कल्पम्) कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला (अस्तु) हो।।

विषयों की ओर झुकी इन्द्रियाँ जो ज्ञान कराती हैं, वह बोध कहलाता है। आत्मा की ओर झुकी इन्द्रियाँ जो ज्ञान कराती हैं, वह प्रतिबोध कहलाता है। बोध का सम्बन्ध विज्ञान और भौतिक वस्तुओं से है। प्रतिबोध का सम्बन्ध धर्म और अध्यात्म से है। **प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।**[२८] अर्थात् प्रतिबोध वा आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। **मनुष्य का चित्त एक अन्तः ज्योति है। इन्द्रियाँ बर्हिमुख हों तो यह बोध कराता है। इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हों तो यही प्रतिबोध कराता है।**

ज्ञान का मध्यस्थ

मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं– आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा। आँख के माध्यम से विभिन्न चित्र, कान के माध्यम से अनेकानेक शब्द, नाक के माध्यम से अच्छी और बुरी गन्ध, जिह्वा के माध्यम से

२७. यजुर्वेद (अध्याय–३४, मन्त्र–३)।
२८. केनोपनिषद् (खण्ड–२, श्लोक–४)।

कभी अधर्म में। उत्तम मन वह है जो सदा धर्म–सन्धान करे और इससे कभी न हटे। अपने मन को ऐसा बना लेना ही मन की साधना है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।[२४]

धर्म क्या है? धर्म वह आचरण है जिसमें दस लक्षण हों:–

(१) धृति अर्थात् कभी न टूटने वाला धैर्य, (२) क्षमा अर्थात् दूसरे की व्यक्तिगत त्रुटियों को क्षमा कर देना, (३) दम अर्थात् मन का संयम, (४) अस्तेय अर्थात् अनुचित ढंग से किसी का धन न लेना, (५) शौच अर्थात् तन और मन की शुद्धता, (६) इन्द्रिय–निग्रह अर्थात् इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, (७) धी अर्थात् उत्तम बुद्धि, (८) विद्या अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति का यथावत् बोध, (९) सत्य को जानना, मानना एवं बोलना, (१०) अक्रोध अर्थात् सदैव सन्तोष एवं शान्ति का व्यवहार करना।

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते।।[२५]

विदुर जी कहते हैं कि आत्मज्ञान, पुरुषार्थ और सहनशीलता के साथ–साथ विद्वान् के लिए यह भी आवश्यक है कि वह सदा धर्म पर चले और संसार का कोई भी आकर्षण उसे धर्म से हटाकर अधर्म की ओर न ले जा सके। यह तभी सम्भव है जबकि उसका मन सदा धर्म का सन्धान करता रहे। धर्म के तीन व्यावहारिक आधार हैं– **त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।**[२६] अर्थात् यज्ञ, अध्ययन और दान का आश्रय लेने से धर्म–सन्धान होता रहता है।

२४. मनुस्मृति (अध्याय–६, श्लोक–९२)।
२५. महाभारत (विदुर धृतराष्ट्र से)।
२६. छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक–२, खण्ड–२३, श्लोक–१)।

अनुपम अद्वितीय

मन जीवात्मा का जैसा उत्तम और अनुपम साधन है, वैसा कोई और नहीं है। जब जीवात्मा प्रथम बार शरीर धारण करता है, तब ईश्वर उसे मन प्रदान करके शरीर में भेजता है। जीवात्मा मन के साथ मिलकर शरीर में रहते हुए अच्छे–बुरे कर्म करके सुख–दुःख भोगता है। मृत्यु होने पर जीवात्मा शरीर छोड़ता है तो मन भी जीवात्मा के साथ जाता है। पुनर्जन्म होने पर जीवात्मा जिस योनि एवं शरीर में जाता है, उसके साथ वही मन रहता है। इस क्रम में वह जीवात्मा एक के बाद एक जितने भी शरीर धारण करता है, उन विभिन्न शरीरों में वह मन उसके साथ बना रहता है। जब जीवात्मा मोक्ष का अधिकारी बन जाता है, तब मन का साथ छूट जाता है और जीवात्मा मोक्षानन्द में प्रवेश कर जाता है।

जीवात्मा में परिवर्तन नहीं होता। किन्तु मन में बहुत परिवर्तन होते हैं। यह मनुष्य के शरीर में होने पर मनुष्य जैसी और खरगोश आदि पशुओं के शरीरों में होने पर पशु जैसी अनुभूति कराता है। स्त्री के शरीर में स्त्री जैसी और पुरुष के शरीर में पुरुष जैसी अनुभूति कराता है। इसे जिस आहार–विहार में लगा दिया जाये, यह उसी में रस खोज लेता है। इस कारण कुछ मनुष्य मद्य–मांस में, कुछ घी–दूध में, कुछ सैर–सपाटे में और कुछ स्वाध्याय–सत्सङ्ग में रस लेते देखे जाते हैं। जीवात्मा को मन के माध्यम से ही सुख के अच्छे और दुःख के बुरे भोग मिलते हैं। बुरे मन वाला मनुष्य बुरा और भले मन वाला मनुष्य भला कहलाता है। इस प्रकार हमारे सुख–दुःख, सत्य–असत्य, च्यवन–साधना और बन्ध–मोक्ष, सबका कारण हमारा मन ही है।

धर्म सन्धान

जैसे शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था होती है, मन में ऐसा अवस्था परिवर्तन नहीं होता। किन्तु मन में विषय परिवर्तन बहुत अधिक होता है। यह कभी योग में जाता है तो कभी भोग में, कभी पुरुषार्थ में जाता है तो कभी आलस्य में और कभी धर्म में जाता है तो

कहते हैं– **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।"**[२१] यह यज्ञ ईशोपासन, वेदाध्ययन, हवन, विद्वत्सेवा, पितृसेवा, सन्तान–पालन, अतिथि सेवा, न्यायाचरण, समाज–सुधार आदि कर्मों के रूप में होता है। ये शान्ति–काल में और समान विचार वाले लोगों के साथ होने वाले कर्म हैं। **आत्मजयी लोग शान्ति–काल में धीरता पूर्वक यज्ञ करते और सुख–समृद्धि बढ़ाते हैं।**

किन्तु शान्ति सर्वदा नहीं रहती। संसार में दैवासुर–संग्राम चलता रहता है। यह संग्राम आदिकाल से चलता आया है। अब भी चल रहा है। प्रत्येक देश, नगर, परिवार, यहाँ तक कि प्रत्येक अन्तःकरण में चल रहा है। सत्य और असत्य, लाभ और हानि, मानव और दानव, न्याय और अन्याय तथा अपने और पराये में सदैव संघर्ष चलता रहता है। यह विपरीत विचार वाले लोगों के साथ होने वाला कर्म है और अशान्ति उत्पन्न करता है। आत्मजयी लोग अशान्ति काल में वीरतापूर्वक युद्ध करते और दुःख एवं अन्याय को हटाते हैं। उनके युद्ध का उद्देश्य होता है–**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।"**[२२] अर्थात् सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का दमन। दुर्जन व्यक्ति छोटा अपराध करे तभी राजा युद्धपूर्वक उसका दमन कर दे। यदि तुरन्त दमन न किया अथवा विलम्ब से दण्ड दिया तो इस बीच वह बड़ा अपराधी बन जाता है और दुर्दम्य हो जाता है। इस प्रकार छोटे–छोटे सामयिक युद्ध शान्ति की स्थापना में सहायक हैं।

माता, पिता एवं मित्रगण स्वाभाविक दाता हैं और सर्वस्व देने को उद्यत रहते हैं। अन्य व्यक्तियों के बीच प्रयत्न से स्थान बनाना होता है जिसमें संघर्ष हो जाता है। किन्तु आत्मजयी बनकर **सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्त्तना चाहिए।**[२३] अर्थात् शान्तिकाल में यज्ञ और अशान्ति काल में विजय प्राप्त करना अभीष्ट है। इनकी प्राप्ति मन की साधना से ही सम्भव है।

२१. शतपथ ब्राह्मण।

२२. गीता (अध्याय–४, श्लोक–८)।

२३. आर्य समाज का सातवाँ नियम।

मन का बुद्धि के नियन्त्रण में रहना उचित दिशा है। बुद्धि भी मन के प्रभाव में आती देखी जाती है; किन्तु इससे बुरे आचरण भी भले लगने लगते हैं; अतः यह गलत दिशा है।

बुद्धि जड़ है; अतः यह अन्तिम शासक नहीं हो सकती। जीवात्मा चेतन है और बुद्धि पर नियन्त्रण रखने वाला है। कोई मूर्ख व्यक्ति भले ही उलटे मार्ग चले; विद्वान् व्यक्ति सीधे ही मार्ग चलता है; इसी प्रकार जीवात्मा अविद्याग्रस्त होकर भले ही बुद्धि से नियन्त्रित हो, विद्यायुक्त होकर वह बुद्धि पर नियन्त्रण रखता है। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने के कारण जीवात्मा के पीछे चल ही नहीं सकता। जीवात्मा स्वयमेव ईश्वर के पीछे चलता अर्थात् उसकी शिक्षा एवं प्रेरणा का अनुसरण करता है। इस प्रकार **इन्द्रियाँ मन के पीछे, मन बुद्धि के पीछे, बुद्धि जीवात्मा के पीछे और जीवात्मा ईश्वर के पीछे चले, यही आत्मानुशासन है।** प्राण सम और स्वस्थ बना रहे तो इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि स्वस्थ रहकर उक्त अनुशासन में बद्ध रहते हैं।

आत्मानुशासन से युक्त विद्या कल्याण करती है; इससे रहित विद्या विवादों को जन्म देती है। आत्मानुशासन से प्राप्त धन अर्थ कहलाता है; इससे रहित धन अनर्थ बन जाता है। आत्मानुशासन से प्राप्त बल धर्म को विजय दिलाता है; इससे रहित बल पाशविक बन जाता है। आत्मानुशासन से युक्त स्वतन्त्रता मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है; इससे रहित स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता बन जाती है। आत्मानुशासन से प्राप्त सुख एक दिव्य अनुभूति है; इससे रहित सुख शारीरिक अनुभव मात्र है। आत्मानुशासन से प्राप्त उन्नति मनुष्य का चरम लक्ष्य है; इससे रहित उन्नति कल्पना मात्र है। आत्मानुशासन से विकसित मानवता सार्वभौमिक और सार्वकालिक है; इससे रहित भावना मानवता नहीं अपितु दानवता है। आत्मानुशासन और योग एक–दूसरे के पर्याय हैं।

यज्ञ और युद्ध

कर्म की पराकाष्ठा यज्ञ और युद्ध में है। श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ

शरीर के अवयव वा इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ, प्राण, मन, अहङ्कार, चित्त, बुद्धि, जीवात्मा और परमात्मा सबके चिन्तन के विषय हैं। इनमें साहचर्य स्थापित करना ही आत्मानुशासन है।

इन्द्रियाँ आत्मा के बाह्य साधन हैं। इनकी चेष्टा से चलना, बोलना, खाना, देखना, सूँघना, छूना आदि व्यवहार होते हैं। इनका बलिष्ठ होना अभीष्ट है। दो पहलवानों को लड़ता देखें; दोनों में विजय का मानसिक सङ्कल्प है; किन्तु एक विजयी और दूसरा पराजित होता है; अर्थात् इन्द्रियों की बलिष्ठता से विजय मिलती है। पहलवानों को पुनः लड़ता हुआ देखें; जिसका कद लम्बा और भार अधिक है, आवश्यक नहीं कि वही विजयी हो; अर्थात् केवल इन्द्रियों से विजय नहीं मिलती, कुछ सूक्ष्म तत्त्वों का भी योगदान होता है।

श्वास–प्रश्वास निरन्तर चलता रहता है। किन्तु इसे प्राणायाम के रूप में चलायें तो इन्द्रियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इससे इन्द्रियाँ सुदृढ़, निर्मल और अभ्यास–तप्त बनती हैं। सुख–शान्ति पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् मन भी प्रभावित होता है। चिन्तन–मनन सुधरता है अर्थात् बुद्धि पर भी प्रभाव पड़ता है। इन्द्रियाँ, प्राण, मन और बुद्धि एक–दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। परिवार में भी सब सदस्य एक–दूसरे पर प्रभाव डालते हैं किन्तु सर्वाधिक प्रभाव पिता का, फिर माता का, फिर बड़े भाई का, फिर छोटे भाई का और सबसे कम सेवक का होता है। इसी प्रकार इन तत्त्वों में कोई सर्वाधिक प्रभावशाली और कोई न्यूनतम प्रभावशाली है।

इन्द्रियों पर मन का नियन्त्रण है। जिस काम में मन जितना अधिक लगता है, वह काम उतना ही उत्तम होता और उतना अधिक सुख देता है। इस प्रकार इन्द्रियों का मन के नियन्त्रण में रहना उचित दिशा है। मन भी इन्द्रियों के रसों में डूबता देखा जाता है; किन्तु उससे हीनतर काम होते हैं; अतः वह गलत दिशा है। मन भावों के वशीभूत होकर कभी–कभी अनावश्यक हर्ष–विषाद में डूब जाता है। बुद्धि उस पर सुविचार से नियन्त्रण करती है तो दिनचर्या में सुधार आता है। इस प्रकार

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।[१८]

अर्थात् विषयों का ध्यान करने से आसक्ति, आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से बुद्धिक्षय और बुद्धिक्षय से मनुष्य का पतन हो जाता है। मन की साधना करने वाले व्यक्ति को विषयों से सदा दूर रहना चाहिए। **मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज।**[१९] अर्थात् मोक्ष की इच्छा करने वाले व्यक्ति सावधान हों और विषयों को विष से भी भयंकर जानकर उनसे सदा दूर रहें।

वे व्यक्ति भूल पर हैं जो इन्द्रियों को इस विचार से खुला छोड़ने के पक्षधर हैं कि इन्द्रियों को भोग में लगने दो, भला ये कितना भोग करेंगी, शीघ्र ही भोगों से तृप्त होकर नियन्त्रण में आ जायेंगी। **न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।**[२०] अर्थात् भोग करने से कामनाओं की तृप्ति नहीं होती जिस प्रकार ईंधन डालते रहने से अग्नि कभी शान्त नहीं होती। अतः इन्द्रियों पर संयम रखना अभीष्ट है। **जिन व्यक्तियों की इन्द्रियाँ मन के पीछे, मन बुद्धि के पीछे और बुद्धि आत्मा के पीछे चलती है, वे आत्मजयी कहलाते हैं।** आत्मजयी लोग विषयों के बजाए ईश्वर का ध्यान करते हैं और आत्मानुशासन से आनन्दमग्न रहते हैं।

आत्मानुशासन

आत्मानुशासन को समझने के लिए आत्म–तत्त्व को समझना आवश्यक है। मनुष्य को देखने पर मुख्यतया उसका शरीर दिखायी देता है। शरीर का सञ्चालक आत्म–तत्त्व अर्थात् जीवात्मा है। जीवात्मा के सूक्ष्मसाधन मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और प्राण हैं। उसके स्थूल साधन

---

१८. गीता (अध्याय–२, श्लोम–६२, ६३)।
१९. चाणक्य नीति (अध्याय–९, श्लोक–१)।
२०. मनुस्मृति (अध्याय–२, श्लोक–९६)।

(२) **न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।**
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाप्तुमर्हति।।[१६]

अर्थात् भाग्य का आश्रय लेना पर्याप्त नहीं है क्योंकि पुरुषार्थ के बिना तिलों से तेल नहीं निकल सकता।

(३) **यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।**
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति।।[१७]

अर्थात् जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चलता उसी प्रकार पुरुषार्थ और प्रारब्ध में एक के आश्रय से जीवन नहीं चलता; पुरुषार्थ के बिना प्रारब्ध नहीं फलता।

अध्यात्म के नाम पर मिथ्या कहा जाता है कि जीवन की घटनायें पहले से निश्चित होती हैं। वास्तव में यह सत्य नहीं है। यदि सब कुछ पूर्व निश्चित हो, तो पुरुषार्थ व्यर्थ है। जीवन में पुरुषार्थ के कमाल परीक्षा, क्रीड़ा, युद्ध, व्यापार, प्रयोगशाला और राजनीति में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। वस्तुतः जीवात्मा के कर्म और भोग अनेक जन्मों से चले आ रहे हैं। इस जन्म में कुछ पुराने फल प्रारब्ध के रूप में और कुछ नये कर्म पुरुषार्थ के रूप में सामने आयेंगे। **प्रारब्ध और पुरुषार्थ, दोनों को मिलाकर जीवन बनता है। दोनों की तुलना में पुरुषार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है।** इसके दो कारण हैं:- (१) मनुष्य के वश में पुरुषार्थ है, प्रारब्ध नहीं, (२) प्रारब्ध भी पहले किये गये पुरुषार्थ का फल है। इस नाते दोनों को भाई-भाई कहा जा सकता है अर्थात् बड़ा भाई पुरुषार्थ और छोटा भाई प्रारब्ध है।

आत्मजयी लोग

सामान्यतः मन का इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है। किन्तु संयम में ढील देने पर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की ओर दौड़ती हैं और ये विषयों में लगी रहें तो मन भी विषयी हो जाता है।

१६, १७. हितोपदेश (अवतरणिका, श्लोक-३०, ३२)।

अध्याय–२

कर्म का साधन

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।[१४]

शब्दार्थः– हे परमेश्वर! (येन) जिस मन से (अपसः) कर्म धर्मनिष्ठ (मनीषिणः) आत्मसंयमी मननशील विद्वान् और (धीराः) ध्यान करने वाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे) अग्निहोत्र, धर्मसंयुक्त व्यवहार, योग (विदथेषु) विज्ञान–कर्म और युद्धादि (कर्माणि) कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं और (यत्) जो (अपूर्वम्) सर्वोत्तम गुणकर्मस्वभाव वाला (प्रजानाम्) प्राणिमात्र के (अन्तः) हृदय में (यक्षम्) पूजनीय एकीभूत हो रहा है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मनन–विचार रूप मन सदा (शिवसङ्कल्पम्) धर्मेष्ट (अस्तु) होवे।।

जीवन कर्म–प्रधान है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं:–(१) क्रियमाण (जो वर्तमान में किये जा रहे हैं); (२) सञ्चित (जो किये जा चुके हैं किन्तु अभी फल के लिए परिपक्व नहीं हुए); (३) प्रारब्ध (जो पूर्व में किये जा चुके और वर्तमान में सुख–दुःख रूप फल दे रहे हैं।)

प्रारब्ध और पुरुषार्थ

प्रारब्ध और पुरुषार्थ में से किसी एक को मानना और दूसरे की उपेक्षा करना एकांगी विचार है, सन्तुलित नहीं। इस सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं:–

(१) **आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।**
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः।।[१५]

अर्थात् आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु पाँचों गर्भकाल में ही निश्चित हो जाते हैं।

---

१४. यजुर्वेद (अध्याय–३४, मन्त्र–२)।

१५. हितोपदेश (अवतरणिका, श्लोक–२७)।

लगाया जाए जिससे अधिकाधिक प्राणियों का सुख बढ़े। **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।।**[१३] अर्थात् जिस आचरण से सांसारिक सुख और मोक्ष के आनन्द की प्राप्ति हो, वह आचरण 'धर्म' कहलाता है। अतः मन को भौतिक, सामाजिक और आत्मिक, तीनों प्रकार के कल्याण में लगाया जाए। मन इसमें लगता तो है; चञ्चलता के कारण यह अपने विषय बदलता रहता है। किन्तु इसे अनुशासित करके धर्म में लगा लिया जाए तो इसमें धर्म के अधिक सङ्कल्प उठने लगते हैं। यह अनुशासन स्वाध्याय, सत्सङ्ग एवं चिन्तन–मनन के द्वारा आता है। ईश्वर की प्रार्थना भी मन को अधर्म से हटाकर धर्म में लगाती है। सो अनुशासन लाने के साथ–साथ ईश्वर से भी प्रार्थना है कि हमारे मन में धर्म के ही सङ्कल्प उठा करें, अधर्म के नहीं।

१३. वैशेषिक दर्शन (अध्याय–१, पाद–१, सूत्र–२)।

हैं। मन इनके साथ है तो इनकी चेष्टा कर्म बनती है। मन साथ नहीं है तो वह कर्म का रूप नहीं ले पाती। इस प्रकार मन ही इन्द्रियों का नियामक और प्रकाशक है।

मेरा अर्थात् सबका

'मेरा मन' कहकर जो कामना की गई है, वह मनुष्य मात्र के लिए है। 'मेरा' अर्थात् प्रत्येक देश और प्रत्येक आयु के सभी स्त्री–पुरुषों का मन। वेद में मनुष्य को इकाई मानकर दिशा–निर्देश दिये गये हैं। फिर चाहे कोई धनी हो वा निर्धन, ज्ञानी हो वा अज्ञानी, स्वामी हो वा सेवक, **इस जाति का हो वा अन्य जाति का, सभी मनुष्य वेद को पढ़ एवं पढ़ा सकते हैं।** सभी भाषायें बोलने वाले और सभी उपासना पद्धतियों के मनुष्यों के मन का स्वरूप एक–सा होता है। कोई मनुष्य कैसा ही आहार करता हो और किसी व्यवसाय को अपनाता हो, उसे मन की साधना के लिए एक–समान शाश्वत मूल्यों का आश्रय लेना होगा। सृष्टि के सिद्धान्त और ईश्वर के नियम सबके लिए समान हैं।

धर्म का सङ्कल्प

जीवात्मा चेतन, कर्त्ता एवं भोक्ता है। किन्तु मन जड़ है और जीवात्मा का साधन है। जीवन में जो सुख और दुःख आते हैं, वे मन के माध्यम से आते हैं किन्तु उनका अनुभव जीवात्मा करता है। मन भले वा बुरे जैसे कार्यों में लग जाता है, उन्हीं में रस लेने लगता है, चाहे उनसे जीवात्मा का उत्थान हो वा पतन। जैसे–एक चाकू है; उससे सब्जी काटी जा सकती है, किसी का गला काटा जा सकता है और रोगी का आपरेशन भी किया जा सकता है। चाकू निर्दोष है, उसे जैसे कार्य में लगा लिया जाए, वह उसी में लगने लगता है। इसी प्रकार मन को धर्म वा अधर्म जिसमें लगा लें, वह उसी में रस लेने लगता है।

सभी प्राणी दुःख से छूटकर सुख पाना चाहते हैं। सुख का आधार धर्म है–**सुखस्य मूलं धर्मः।।**[१२] अतः यह आवश्यक है कि मन को धर्म में

१२. चाणक्य–सूत्र।

प्रायः स्वप्न उन कार्यों के आते हैं जिनमें मनुष्य का मन जाग्रत अवस्था में लगा रहता हो अथवा जिन्हें करने की उसमें अभिलाषा बसी हो। अतः स्वप्न के विषयों वा घटनाओं से बाद में चिन्तित नहीं होना चाहिए। कभी स्वप्न में भय उत्पन्न हो जाता है तो कभी कोई गुत्थी भी सुलझ जाती है। वस्तुतः **मन अपनी स्वच्छन्द उड़ान पर दौड़ता है जो कल्पना की उड़ान है और मन का सामान्य व्यापार है। अतः स्वप्नों को वास्तविक भविष्य के लिए कोई संकेत न समझें।**

इन्द्रियों का प्रकाशक

मन की स्थिति जीवात्मा और इन्द्रियों के बीच रहकर कार्य करने की है। यह जीवात्मा का साथी है। जीवात्मा जो कार्य करना चाहता है, उसके लिए मन को प्रेरित करता है। मन उस प्रेरणा के अनुरूप इन्द्रियों को चलाता है और इन्द्रियों के सक्रिय होने पर कार्य हो जाता है।

इन्द्रियों के काम निश्चित और बँटे हुए हैं। आँख देखने के, कान सुनने के, नाक सूँघने के, जिह्वा खाने के और त्वचा स्पर्श के काम आती है। ये पाँच ज्ञान–इन्द्रियाँ हैं। वाणी बोलने का, हाथ करने का, पैर चलने का और दो इन्द्रियाँ मूत्र एवं मल शरीर से बाहर निकालने का काम करती हैं। ये पाँच कर्म–इन्द्रियाँ हैं। ये दस इन्द्रियाँ अपना–अपना काम करती हैं और एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का काम नहीं कर सकती। किन्तु मन सब कामों में लगता है और जीवात्मा की इच्छा एवं आवश्यकता के अनुसार इन्द्रियों से काम कराता है।

इन्द्रियों पर सीधा नियन्त्रण मन का है। मन इन्द्रियों के पीछे रहकर उन्हें कर्म में लगाता है। मन ऐसा न करे तो इन्द्रियाँ कार्य में न लगें। अनेक बार ऐसा होता है कि हमारी आँखें खुली हैं किन्तु मन कहीं और लगा है। ऐसे में आँखों के सामने से कोई गुजर जाए तो भी वह देखने में नहीं आता। कोई व्यक्ति बोल रहा है और हमारे कान उसके निकट ही हैं किन्तु मन कहीं और लगा है तो उसका बोला हमारे सुनने में नहीं आता। इसका कारण यह है कि इन्द्रियाँ तो करण अर्थात् साधन

सुषुप्ति और निद्रा

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।।[११] जाग्रत और स्वप्न के अभाव की अवस्था निद्रा वा सुषुप्ति है। इसमें प्रगाढ़ निद्रा आती है; कोई स्वप्न नहीं आता; शरीर और मन तमस् से आच्छादित हो जाते हैं। यह भी चित्त की एक वृत्ति है। इससे स्पष्ट है कि निद्रा वा सुषुप्ति में मन–बुद्धि–चित्त–अहङ्कार पूर्णतः निष्क्रिय नहीं होते और अन्तःकरण के कुछ व्यापार चलते रहते हैं। ये व्यापार समाधि–अवस्था में बन्द हो जाते हैं।

स्वप्न देखना

स्वप्न अवस्था में मन इन्द्रियों के बिना कार्य करता है। यह देखता है किन्तु आँखें बन्द रहती हैं, अतः देखने की क्रिया भीतर–ही–भीतर होती है। यह सुनता है किन्तु कान बन्द रहते हैं, अतः सुनने की क्रिया भीतर–ही–भीतर होती है। यह चलता है किन्तु पैर विश्राम में रहते हैं, अतः चलने की क्रिया भीतर–ही–भीतर होती है। इसी को स्वप्न कहते हैं। इसमें मन भिन्न–भिन्न स्मृतियों में घूमता रहता है और स्वप्न की घटनाएँ घटती रहती हैं। किन्तु मन उन्हीं स्मृतियों में जाता है जो अनुभव उसने पहले से कर रखे हों। मन को जो अनुभव न हुए हों उनकी स्मृति न होने से उनका स्वप्न भी नहीं होता। उदाहरणार्थ–जन्म से अन्धे व्यक्ति को रूप का और जन्म से बहरे व्यक्ति को शब्द का स्वप्न नहीं आता। जो अनुभव स्मृति में पड़े हों, उन्हीं में से किसी का स्वप्न आता है। किन्तु एक अनुभव दूसरे अनुभव में विषम रूप से भी मिल सकता है। जैसे–किसी व्यक्ति ने कुत्ता, घोड़ा, हाथी और सिंह चारों पशु पृथक्–पृथक् देखे हों; तो उसे ऐसा पशु भी स्वप्न में दिखायी दे सकता है जिसका मुँह सिंह जैसा, सूँड़ हाथी जैसी, टाँगें घोड़े जैसी हों और जो कुत्ते की भाँति भौंकता हो। वस्तुतः मन बिखरी पड़ी स्मृतियों में स्वच्छन्दता से प्रवेश करता है और अव्यवस्थित रूप से घूमता हुआ विभिन्न स्वप्नों को जन्म देता रहता है।

---

११. योग दर्शन (पाद–१, सूत्र–१०)।

कर्मों का समूह होता है। जैसे पढ़ने वाले ने सर्वप्रथम नेत्र खोले, फिर नेत्रों को एक शब्द पर टिकाया, उस शब्द का बुद्धि से अर्थ किया, फिर अगले शब्द को जाना, अनेक शब्दों को अलग–अलग जानकर उनके सम्मिलित अर्थ को भी जाना, उसे स्मरण रखा, आवश्यक बातें लिखीं भी। इस प्रकार पढ़ने के एक काम में दर्जनों कर्म होते हैं। ये छोटी–छोटी कर्म–इकाइयाँ ही विशाल कार्य की आधार हैं। **मन लगाकर इन इकाइयों को सुधारा जाए तो सम्पूर्ण कार्य सुधर जाता है।**

जैसे सुए से कागज के बीस पन्ने बींधे गये। देखने में ऐसा लगा जैसे कि सुआ समस्त पन्नों में एक–साथ प्रवेश कर गया हो। वास्तव में सुए ने एक–एक पन्ने में क्रमशः प्रवेश किया है। इसी प्रकार मन एक–एक कर्म करता है। इसकी गति इतनी अधिक होती है कि यह एक समय में अनेक कर्म करता प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में मन एक समय में एक ही कर्म करता है।

जाग्रत अवस्था

मन की साधारण अवस्थायें तीन होती हैं–जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति। चौथी तुरीय अवस्था है जो समाधि से सम्बन्धित होने के कारण भावात्मक और असाधारण है। जाग्रत अवस्था वह है जिसमें इन्द्रियाँ तथा मन दोनों सक्रिय हों और तन–मन के समस्त व्यापार चल रहे हों। जाग्रत अवस्था में मन दूर–दूर तक जाता है। यह दूर तक जाना कभी वाञ्छित होता है; कभी अवाञ्छित। जब मनुष्य गम्भीर चिन्तन में हो, तो **चिन्तन के विषय पर ही मन का दूर और गहरे जाना वाञ्छित एवं कार्य–साधक है।** अध्ययन, अध्यापन, अनुसन्धान, कृषि, व्यापार, युद्ध आदि अगणित कर्मों में मन को देर तक गहरे ले जाना होता है। किन्तु **जब मन किसी अन्य विषय पर जाने लगे तो वह अवाञ्छित, बाधक है और 'भागना' कहलाता है।** स्वप्न अवस्था में इन्द्रियाँ निष्क्रिय किन्तु मन सक्रिय रहता है और स्वप्न आते रहते हैं।

में कोई वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलकर जाती और उसका कोई माध्यम भी होता है, जैसे एक किरण सूर्य से चलकर अन्तरिक्ष और वायु के माध्यमों से होकर पृथ्वी तक पहुँचे। किन्तु मन के चलने में कोई वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलकर नहीं जाती।

मन शरीर से बाहर निकलकर सड़क–सड़क चलकर नदी में तैरकर पर्वत पर चढ़कर समुद्र पार करके किसी स्थान तक नहीं पहुँचता। यह तो सदैव शरीर के भीतर रहता है। वस्तुतः हमारे चित्त में अनगिनत वस्तुओं, स्थानों, प्राणियों एवं अनुभवों की स्मृतियाँ पड़ी रहती हैं। मन इन्हीं में से कभी किसी पर और कभी किसी पर लग जाता है। एक वस्तु से हटकर दूसरी वस्तु पर मन का लगना ही मन की गति कहलाती है। स्पष्ट है कि यह गति प्रकाश की गति की भाँति नापी नहीं जा सकती। इसलिए मन को प्रकाश से अधिक वेगवान् कहा गया है।

एक समय में एक काम

एक व्यक्ति कार चलाते हुए भजन सुन रहा था। एक महिला स्वेटर बुनती हुई फुटबाल का मैच देख रही थी। एक लड़की भोजन बना रही थी और किसी से बातें भी कर रही थी। एक लड़का पुस्तक पढ़कर गीत गा रहा था और हारमोनियम भी बजा रहा था। इन घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि मन एक समय में अनेक काम कर लेता है।

मन के विषय में कहा गया है कि **युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।।**[10] अर्थात् मन एक समय में दो काम नहीं कर सकता, एक ही काम करता है। वस्तुतः मन की गति इतनी अधिक है कि वह जल्दी–जल्दी एक से दूसरे काम में आता–जाता रहता है। उसका यह आना–जाना इतनी तीव्र गति से होता है कि इस परिवर्तन का भान नहीं होता और ऐसा लगता है जैसे कि मन एक साथ अनेक कामों में लगा हो। किन्तु सत्य यह है कि मन एक समय में एक ही काम करता है।

जिसे मोटे रूप में एक काम कहा जाता है, वह वास्तव में अनेक

१०. न्याय दर्शन (अध्याय–१, आह्निक–१, सूत्र–१६)।

अध्याय—१

मन का स्वरूप

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।[६]

शब्दार्थः— हे जगदीश्वर! आपकी कृपा से (यत्) जो (दैवम्) जीवात्मा का साधन (दूरङ्गमम्) दूर जाने, मनुष्य को दूर तक ले जाने वा अनेक पदार्थों का ग्रहण करने वाला (ज्योतिषाम्) शब्द आदि विषयों के प्रकाशक श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (ज्योतिः) प्रवृत्त करने हारा (एकम्) एक (जाग्रतः) जाग्रत अवस्था में (दूरम्) दूर—दूर (उत एति) भागता है (उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा एव) उसी प्रकार (एति) भीतर अन्तःकरण में जाता है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) सङ्कल्प—विकल्पात्मक मन (शिवसङ्कल्पम्) कल्याणकारी धर्म विषयक इच्छा वाला (अस्तु) हो।।

मन का स्वरूप समझने के लिए धान का दृष्टान्त उपयुक्त होगा। धान का मूल चावल है; प्राणी का मूल जीवात्मा है। भूसी—रहित चावल अंकुरित नहीं हो सकता; शरीर—रहित जीवात्मा कर्मरत नहीं हो सकता। अकेली भूसी अंकुरित नहीं हो सकती; निर्जीव शरीर भी कर्मरत नहीं हो सकता। चावल और भूसी एक झिल्ली के माध्यम से मिलते हैं, जिसके बिना अंकुरण नहीं होता। चेतन जीवात्मा और स्थूल शरीर भी सीधे सम्पर्क में नहीं आ सकते। इनके मध्य इन्हें मिलाने वाला मन होता है। मन चेतन नहीं होता, जड़ होता है; किन्तु साकार नहीं होता, सूक्ष्म होता है।

सर्वाधिक गतिमान्

संसार में सर्वाधिक गति प्रकाश की है जो १,८६,००० मील प्रति सेकण्ड है। मन की गति प्रकाश से अधिक बतायी गई है। किन्तु प्रकाश और मन की गति में कोई तुलना नहीं की जा सकती। प्रकाश के चलने

६. यजुर्वेद (अध्याय—३४, मन्त्र—१)।

सङ्कल्प के धनी व्यक्ति ही उत्तम मनुष्य बन पाते हैं, अन्य नहीं।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।।[८]

(हे व्रत के स्वामी ज्ञानस्वरूप परमात्मा! मैं असत्य को छोड़कर सत्य का आचरण करने का व्रत ले रहा हूँ। आप व्रत के पालक हैं; कृपा करके मेरे इस व्रत को पूर्ण कीजिए।) मनुष्य सङ्कल्प लेने वाला है, ईश्वर उसकी रक्षा करने वाला स्वामी है। सङ्कल्प की पूर्णता के लिए मनुष्य का पुरुषार्थ तो आवश्यक है ही, ईश्वर की कृपा भी आवश्यक है। उसकी कृपा के बिना मनुष्य को समस्त कार्यों में सफलता नहीं मिलती है। कृपा प्राप्त होने से महाकठिन कार्य भी सरल बन जाते हैं।

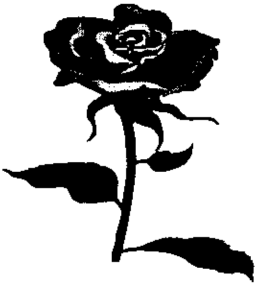

८. यजुर्वेद (अध्याय–१, मन्त्र–५)।

(ब) पुत्री के विवाह के अवसर पर उन माता–पिता को भी भूख–प्यास नहीं सताती जो सामान्य अवस्था में थोड़ा विलम्ब होने पर भूख–प्यास से व्याकुल हो जाते हैं।

(स) युद्ध में विशाल सेनायें सङ्कल्प के अभाव में पराजित होतीं और सङ्कल्पबद्ध छोटी सेनायें विजय पाती देखी जाती हैं।

(द) विद्यार्थी पढ़ने के लिए सङ्कल्पबद्ध हो तो प्रकाश की कमी अथवा गर्मी–सर्दी उसके अध्ययन में बाधक नहीं बनतीं जबकि साधारण व्यक्ति इन प्रतिकूलताओं से थक–हार जाते हैं।

सङ्कल्प मन को शक्ति देता रहता है। मन में जिस बात का सङ्कल्प हो, मन अधिकांश समय उसी में लगा रहता है। इससे उस पर चिन्तन–मनन हो जाता है। उसकी अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों के लिए मन तैयार रहता है। मन पूरी एकाग्रता और पूरी भक्ति से उसमें बसा और डूबा रहता है। मन उसके साथ एकाकार हो जाता है।

अपने सङ्कल्प के पीछे मनुष्य न थकान देखता है, न राग और न विघ्न–बाधा जबकि अन्य कार्यों में वह थोड़ी–सी असुविधा में भी शिकायत करने लगता है। **वस्तुतः सङ्कल्प एक कवच है जो आलस्य, लोभ एवं विचलन रूपी बाणों को प्रभावहीन करता है।**

भर्तृहरि ने उत्तम, मध्यम एवं अधम व्यक्तियों की परिभाषा सङ्कल्प के आधार पर की हैः–

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।।[७]

(अधम पुरुष विघ्न के भय से कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते, मध्यम पुरुष कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु विघ्न आने पर उसे छोड़ देते हैं, उत्तम पुरुष बार–बार विघ्न आने पर भी कार्य को बीच में नहीं छोड़ते और उसे पूरा करके ही दम लेते हैं।) वस्तुतः यह सङ्कल्प का ही क्रमशः अभाव, निर्बलता एवं दृढ़ता है जो उपर्युक्त भेद करती है। दूसरे शब्दों में, दृढ़

७. भर्तृहरि (नीतिशतकम्, श्लोक–२७)।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।[५]

अर्थात् व्रत (सङ्कल्प) से दीक्षा (अधिकार); दीक्षा से दक्षिणा (सत्कार); दक्षिणा से श्रद्धा (दृढ़ विश्वास); श्रद्धा से सत्य (लक्ष्य, ज्ञान, सुख, सफलता एवं वाञ्छित फल) की प्राप्ति होती है।

तनिक वर्तमान समाज को देखें। इसमें स्वस्थ, सत्यवादी, सदाचारी, धार्मिक और विद्वान् व्यक्तियों की संख्या रोगी, झूठे, व्यसनी, अधार्मिक और अज्ञानी लोगों से कम और विचारपूर्वक जीने वालों की संख्या बिना विचारे जीने वालों से कम है। इससे स्पष्ट है कि सङ्कल्प कम लोग लेते हैं। व्यवहार में लोग नव वर्ष, जन्म दिन, राष्ट्रीय पर्व, किसी महापुरुष की तिथि आदि के अवसर पर सङ्कल्प लेते हुए देखे जाते हैं, किन्तु यह सङ्कल्प न होकर इच्छा मात्र होती है। सङ्कल्प हो तो मनुष्य इसे भूले नहीं, इसके विपरीत न चले और सङ्कल्पबद्ध होकर चलता जाए। किन्तु वह तो पुनः-पुनः भूलता और सङ्कल्प लेता रहता है। उदाहरण के लिए एक शराबी सैकड़ों बार शराब छोड़ने का सङ्कल्प लेता और अगले दिन तोड़ देता है। क्रोधी मनुष्य प्रतिदिन क्रोध छोड़ने का सङ्कल्प लेता और प्रतिदिन उसे तोड़ देता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि यह सङ्कल्प नहीं और इसमें खड़े रहने का बल नहीं है। **सङ्कल्प में बल होता है जो मनुष्य को विपरीत परिस्थितियों में अडिग रखता है।**

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयात्[६] अर्थात् सङ्कल्प मन से बढ़कर है। इसका तात्पर्य यह है कि मन अपनी सामान्य अवस्था में जितना बलवान् होता है, सङ्कल्पबद्ध अवस्था में उससे कई गुणा अधिक बलवान् हो जाता है। सङ्कल्प के बल का भान निम्नलिखित वास्तविकताओं से हो जाएगा–

(अ) माँ को बालक द्वारा गीले किये गये बिस्तर पर सोने से जुकाम नहीं होता क्योंकि उसका सङ्कल्प उसे बालक के पालन-पोषण में स्वभावतः लगाये रखता है।

५. यजुर्वेद (अध्याय-१६, मन्त्र-३०)।

६. छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक-७, खण्ड-४, श्लोक-१)।

सङ्कल्प

जाग्रत अवस्था में मन हर समय काम करता रहता है। उसमें सदैव कोई–न–कोई विचार आता रहता है। एक विचार आते ही उसका विपरीत विचार भी आ जाता है। विचार को सङ्कल्प और विपरीत विचार को विकल्प कहते हैं। ये सङ्कल्प और विकल्प ही मन के मुख्य व्यापार हैं।

मन में सदैव सङ्कल्प–विकल्प उठते रहते हैं–उठूँ, न उठूँ, स्नान करूँ, न करूँ, खाऊँ, न खाऊँ, बोलूँ, न बोलूँ, जाऊँ, न जाऊँ, इत्यादि। किसी एक विषय पर 'करूँ, न करूँ' की आवृत्ति कभी एक ही बार, प्रायः २–३ बार और कभी–कभी सैकड़ों बार होती है। उसके बाद जो निश्चय होता है वह भी सङ्कल्प कहलाता है। मन के इसी सङ्कल्प से आगे वचन और कर्म के सोपान आते हैं।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।[४]

अर्थात् मनुष्य जैसा मन में सोचता है, वैसा वाणी से बोलता है; जैसा वाणी से बोलता है, वैसा कर्म करता है; जैसा कर्म करता रहता है, वैसा ही उसका जीवन बन जाता है।

हितकारी निश्चय को शुभ सङ्कल्प और कल्याणकारी निश्चय को शिव सङ्कल्प कहते हैं। ये दोनों वस्तुतः एक ही हैं। अहितकर एवं हानिकर निश्चय को बुरा सङ्कल्प कहते हैं। मनुष्य का सङ्कल्प कभी अच्छा होता है तो कभी बुरा। किन्तु मन को स्वाध्याय, सत्सङ्ग, योगाभ्यास, ध्यान और ईशोपासन में लगाया जाए तो अधिकाधिक सङ्कल्प अच्छे होते जाते हैं। मन की साधना करते–करते स्वभाव इतना उत्तम बन जाता है कि बुरे सङ्कल्प उठने प्रायः बन्द हो जाते हैं और अच्छे–अच्छे सङ्कल्प उठते हैं। यही अभीष्ट स्थिति है। इसी की प्राप्ति के लिए शयन मन्त्रों का विधान है। इनके मनन से मनुष्य मे गुणात्मक सुधार होता है।

---

४. शतपथ ब्राह्मण।

लोग (देवानाम्) पूर्ण विद्वान्, धार्मिक (उत) और आप्त लोगों की (सुमतौ) उत्तम सुमति में (स्याम) प्रवृत्त रहें।

भगं ऽ एव भगवाँ२ऽ अस्तु देवास्तेनं वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वां भग सर्वं ऽ इज्जोहवीति स नो भंग पुर ऽ एता भवेह।।५।।

शब्दार्थः— हे (भग) सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर! जिससे (तम्) उस (त्वा) आपकी (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं, (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यपद! (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुरएता) अग्रगामी और आगे–आगे सत्यकर्मों में बढ़ानेहारे (भव) हूजिए; (भग एव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता होने से आप ही हमारे (भगवान्) पूजनीय देव (अस्तु) हूजिए, (तेन) उसी हेतु से (देवाः वयम्) हम विद्वान् और (भगवन्तः) ऐश्वर्य–सम्पन्न होके सब संसार के उपकार में तन, मन, धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें।

दिनचर्या पूर्वसन्ध्या से

यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में जागरण मन्त्रों और शयन मन्त्रों का विधान है। मन्त्र संख्या १ से ६ तक रात्रि को शयन के समय और मन्त्र संख्या ३४ से ३८ तक प्रातः जागरण के समय बोले जाते हैं। इस प्रकार शयन मन्त्र पहले और जागरण मन्त्र बाद में दिये गए हैं, जबकि जागरण की क्रिया पहले और शयन की क्रिया बाद में होती है।

इसका रहस्य यह है कि क्रिया की दृष्टि से जागरण पहले होने पर भी साधना की दृष्टि से शयन पहले है क्योंकि दिन की चर्या का प्रारम्भ उससे पहली सन्ध्या से हो जाता है। रात्रि को मनुष्य ठीक से सोये, तभी प्रातः ठीक से उठकर दिन में उत्तम व्यवहार कर सकता है। रात्रि को अनुचित भोजन, अनुचित चिन्तन और अनुचित शयन करके प्रातः उचित जागरण नहीं हो सकता और दिन के उत्तम प्रारम्भ का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार साधना की दृष्टि से शयन जागरण से पहले है।

ऐश्वर्य के दाता (उग्रम्) तेजस्वी (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) पुत्ररूप सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे और (यः) जो कि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा (आध्रः) सब ओर से धारणकर्त्ता (यं चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा (तुरश्चित्) दुष्टों का दण्डदाता और (राजा) सबका प्रकाशक है, (यम्) जिस (भगम्) भजनीय स्वरूप को (चित्) भी (भक्षि इति) 'तू सेवन कर' इस प्रकार परमेश्वर सबको (आह) उपदेश करता है कि तुम मेरी उपासना किया करो, और मेरी आज्ञा में चला करो, जिससे तुम लोग सदा उन्नतिशील रहो, इससे (वयम्) हम लोग उसकी (हुवेम) स्तुति करते हैं।

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भग॒ेमां धिय॒मुद॑वा॒ दद॑न्नः।
भग॒ प्र णो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्रनृ॒भिर्नृ॒वन्त॑ः स्याम।।३।।

शब्दार्थः— हे (भग) भजनीयस्वरूप (प्रणेतः) सबके उत्पादक, सत्याचार में प्रेरक (भग) ऐश्वर्यप्रद (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता परमेश्वर! (नः) हमको (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिए, और उसके दान से हमारी (उदव) रक्षा कीजिए। हे (भग) विद्यारूप ऐश्चर्य के दाता ईश्वर! आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिए (प्रजनय) प्रकट कीजिए, हे (भग)ईश्वर! आपकी कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले (प्र स्याम) अच्छी प्रकार होवें।

उ॒तेदानीं॒ भग॑वन्तः स्यामो॒त प्र॑पि॒त्व ऽ उ॒त मध्ये॒ ऽ अह्ना॑म्।
उ॒तोदि॑ता मघव॒न्त्सूर्य॑स्य व॒यं दे॒वाना॑ꣳ सुम॒तौ स्या॑म।।४।।

शब्दार्थः— हे भगवन्! आपकी कृपा (उत) और अपने पुरुषार्थ से हम (इदानीम्) इसी समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता, उत्तमता की प्राप्ति करें (उत) और (अह्नाम्) दिन के (मध्ये) मध्य काल में (भगवन्तः) ऐश्वर्युक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें, (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे परमात्मा! (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) उदयकाल में (वयम्) हम

लिए 'मन' शब्द का प्रयोग किया गया है।

साधना का अभिप्राय

साधना में मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार चारों का परिष्कार अपेक्षित है; अर्थात् (१) मन में अच्छे सङ्कल्प उठें, बुरे सङ्कल्प न उठें, मन पवित्र और शान्त हो। (२) बुद्धि शुद्ध और तीव्र हो; **शुद्ध बुद्धि पाप से बचाती है; तीव्र बुद्धि सफलता दिलाती है।** (३) चित्त में उत्थानकारी संस्कार एवं स्मृतियाँ उभरें; वासनायें शमन को प्राप्त हों। (४) **अहङ्कार स्वस्थ हो; इसमें यथार्थ दर्शन की भावना हो; न हीनम्मन्यता और न श्रेष्ठम्मन्यता।** (५) मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार पृथक्–पृथक् विषयों में न लगे हों अपितु चारों एकनिष्ठ हों; **सम्पूर्ण अन्तःकरण प्रशान्त रहकर समग्रता में कार्य करे।**

जागरण मन्त्र[3]

ओं प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रꣳ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रꣳ हुवेम।।१।।

शब्दार्थः– हे स्त्री–पुरुषो! जैसे विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभातवेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्त और परमैश्वर्य के दाता (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राण–उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान् (प्रातः) (अश्विना) सूर्य–चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है, उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं, और (प्रातः) (भगम्) भजनीय–सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता (ब्रह्मणस्पतिम्) वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे (प्रातः) (सोमम्) अन्तर्यामी प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति–प्रार्थना करते हैं, वैसे प्रातः समय में तुम लोग भी किया करो।

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह।।२।।

शब्दार्थः– (प्रातः) पाँच घड़ी रात्रि रहे (जितम्) जयशील (भगम्)

३. यजुर्वेद (अध्याय–३४, मन्त्र– ३४ से ३८)।

मन—बुद्धि—चित्त—अहङ्कार

अन्तःकरण चतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार चारों गिने जाते हैं। मन का कार्य सङ्कल्प--विकल्प करना और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना है। यह गतिशील रहने वाला तत्त्व है। इसकी उत्पत्ति अहङ्कार के पश्चात् होती है। इसके सहयोग से ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान--सम्पादन और पाँच कर्मेन्द्रियॉ कर्म—व्यापार करती हैं। इसे उभय—इन्द्रिय भी कहा जाता है।

बुद्धि का कार्य चिन्तन और निश्चय करना है। सृष्टि उत्पत्ति में सर्वप्रथम 'महत्तत्त्व' बनता है। यही महत्तत्त्व जीवात्माओं के साथ बुद्धिरूप होकर रहता है। **बुद्धि स्वभाव से वस्तुनिष्ठ है। इसका निवास मस्तिष्क में है।**

चित्त का कार्य स्मृति और संस्कारों को संगृहीत करना है। मन में जिस भावना वा कामना का दीर्घकाल तक वास रहे, वह भी वासना बनकर चित्त में संगृहीत रहती है। चित्त ज्ञान—प्रधान है और इसका निवास हृदय में है।

अहङ्कार मैं—पन की भावना है। महत्तत्त्व के पश्चात् अहङ्कार नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यह कर्म--प्रधान है और इसका निवास हृदय में है। **अहङ्कार स्वभाव से व्यक्तिनिष्ठ है और ममता, अस्मिता एवं अभिमान का आधार है**। यह धन, भूमि, शरीर, परिवार, वंश, ग्राम एवं देश मेरा है, जीवात्मा को यह अनुभूति इसी तत्त्व से होती है।

शयन—कालीन मन्त्रों में दूर—दूर ले जाने वाला, इन्द्रियों को प्रवृत्त करने वाला और मननरूप जो तत्त्व बताया गया है, वह मन ही है। किन्तु बुद्धिरूप, वेद को जानने हारा और सारथि की भाँति मनुष्यों को ले जाने वाला जो तत्त्व बताया गया है, वह बुद्धि है। स्मृति का साधन और योगयुक्त चित्त तो चित्त है ही। जो सब कर्मों का साधनरूप, आत्मा का साथी और जिसके बिना कोई काम नहीं किया जाता, वह अहङ्कार है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार, चारों के

प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार भय मन का गुण है; किन्तु भय की अवस्था में शरीर के रोम खड़े हो जाते हैं, हाथ–पैर ठण्डे हो जाते हैं और मल–मूत्र भी निकल जाता है। मन में भोजन के प्रति लालसा उत्पन्न हो जाए, तो मुँह में पानी भर आता है। प्रियजन से मिलने पर मन प्रसन्न हो तो नेत्रों में चमक आ जाती है, चेहरा खिल उठता है और खाने–पीने की आवश्यकता घट जाती है। प्रियजन की मृत्यु से मन दुःखी हो तो चेहरा मुरझा जाता है, आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं और नींद गायब हो जाती है। चिन्ता मन का विषय है; किन्तु इससे चेहरा निस्तेज हो जाता है, रक्तचाप बदल जाता है, पाचन–तन्त्र कमजोर हो जाता है और शरीर क्षीण हो जाता है। मन शान्त रहे तो रक्तचाप सामान्य रहता है, शरीर के रोग कम होते हैं और आयु लम्बी होती है। इस प्रकार मन के भावों का शरीर पर प्रभाव पड़ता है।

शरीर का भी मन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ– उत्तेजक पुस्तक पढ़ने और अश्लील चित्र देखने से मन में उत्तेजना आती है। जल की पहुँच शरीर तक है, मन तक नहीं; किन्तु स्नान करने से मन को शान्ति मिलती है। अधिक भोजन करना शरीर का विषय है, किन्तु इससे मन बेचैन होता है। नशा करना शरीर का विषय है, किन्तु इससे मन अपवित्र हो जाता है। व्यसन का प्रयोग शरीर पर होता है, किन्तु इससे मन में चञ्चलता आती है। पेड़ की ठण्डी छाया शरीर पर पड़ती है, किन्तु मन भी सुख का अनुभव करता है। नरम गद्दे पर सोना, मधुर संगीत सुनना, स्वादिष्ट भोजन करना, पैर दबवाना आदि शरीर के विषय हैं; किन्तु इनसे मन भी सुख पाता है। शरीर रुग्ण रहने लगे तो मन में निराशा का भाव आ जाता है।

इन सब वास्तविकताओं से विदित होता है कि शरीर और मन का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। मन की साधना के लिए शरीर भी अच्छा होना चाहिए। मन की साधना आगे शरीर को भी आरोग्य प्रदान करती है।

जिसके द्वारा बुद्धिमान् सब, नाना कर्तव करते हैं।
सत्कर्मों को करें मनीषी, वीर युद्ध में मरते हैं।
पूजनीय अतिशय जिसका है प्रजावर्ग में अद्भुत मान।
नित्य युक्त शुभ सङ्कल्पों से, वह मन मेरा हो भगवान्।।२।।
जिसमें धैर्य, शक्ति चिन्तन की, तथा ज्ञान रहता भरपूर।
प्राणिमात्र में अमृतमय है जो प्रकाश का बहता पूर।
जिसके बिना नहीं चलता है निश्चय कोई कार्य विधान।
नित्य युक्त शुभ सङ्कल्पों से, वह मन मेरा हो भगवान्।।३।।
अमर तत्त्व जो त्रयकालों का भेद यथावत् पाता है।
बुद्धि, ज्ञान की पाँच इन्द्रियाँ, अहङ्कार से नाता है।
इन्हीं सप्त ऋत्विज का फैला जिसमें निशदिन यज्ञ वितान।
नित्य युक्त शुभ सङ्कल्पों से, वह मन मेरा हो भगवान्।।४।।
चार वेद, निगमागम सारे, ईशज्ञान के सुन्दर स्रोत।
रथ के पहिये में ज्यों आरे, एवं रहते ओत–प्रोत।
जंगम जग का चित्त अचल हो, जिसमें रहता निष्ठावान्।
नित्य युक्त शुभ सङ्कल्पों से, वह मन मेरा हो भगवान्।।५।।
जो जनकुल को बागडोर से इधर–उधर ले जाता है।
चतुर सारथी ज्यों घोड़ों को इच्छित चाल चलाता है।
सदा प्रतिष्ठित हृदय देश में, विपुल तीव्रगति, अजर, महान्।
नित्य युक्त शुभ सङ्कल्पों से, वह मन मेरा हो भगवान्।।६।।

शरीर और मन का सम्बन्ध

मनुष्य एक इकाई है। इसमें आत्मा, मन और शरीर संगठित हैं। आत्मा के लिए मन और शरीर मिलकर कार्य करते हैं। अतः शरीर और मन में घनिष्ट सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

क्रोध करने पर नेत्र लाल और चेहरा कठोर हो जाता है। **अधिक क्रोध करने वाले व्यक्तियों के नेत्रों और चेहरे पर स्थायी रूप से कठोरता आ जाती है।** क्रोध मन का गुण है किन्तु शरीर पर भी इसका

अध्याय–०

शयनकालीन मन्त्र[1]

जीवन को सुखी–समृद्ध बनाने के यत्न हर देश में हुए हैं। किन्तु जितना सन्तुलित एवं समग्र चिन्तन भारत के ऋषियों ने किया, उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। ऋषि–प्रणाली से ही शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उत्थान सम्भव है। इस प्रणाली के अंग–स्वरूप रात्रि को शयन के समय बोले जाने वाले छः मन्त्र निम्नलिखित हैं:–

ओं यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।१।।
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।२।।
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।३।।
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।४।।
यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।५।।
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।६।।

पद्यानुवाद[2]

उपर्युक्त मन्त्रों का पद्यानुवाद निम्नवत् हैः–

प्रभो! जागते हुए सदा जो दूर–दूर तक जाता है।
सोते में भी दिव्य शक्तिमय कोसों दौड़ लगाता है।
दूर–दूर वह जाने वाला तेजों का भी ज्योति निधान।
नित्य युक्त शुभ सङ्कल्पों से, वह मन मेरा हो भगवान्।।१।।

---

१. यजुर्वेद (अध्याय–३४, मन्त्र– १ से ६)।

२. संकलित।

होता है। जीवन का इससे बेहतर आधार और क्या हो सकता है!

मन की साधना पूर्ण करने हेतु इन छः मन्त्रों पर मनन करने के अतिरिक्त सम्यक् दिनचर्या, सन्तुलित आहार, नियमित व्यायाम, पञ्च महायज्ञ, षट्क सम्पत्ति, पञ्च कोश विवेक, श्रवण चतुष्टय, भ्रान्ति–निवारण और अष्टाङ्ग योग भी आवश्यक है। इन सब विषयों पर प्रस्तुत पुस्तक में विचार किया गया है। पुस्तक से मन के स्वरूप एवं शक्ति को समझने, प्राणायाम से मन को पवित्र करने तथा ध्यान द्वारा उसे एकाग्र करने में सहायता मिलेगी, ऐसा लेखक को विश्वास है। यदि कुछ सहस्र पाठक भी मन की साधना में इस पुस्तक को उपयोगी पायें, तो लेखक अपना प्रयत्न सार्थक समझेगा।

पुस्तक के प्रकाशन में अनेक मित्रों का सहयोग रहा है जिनमें प्रमुख हैं–डॉ० ओमप्रकाश, आई० ए० एस०, सचिव, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ; श्री राम मोहन मिश्र, आई० ए० एस०, एक्जीक्यूटिव डायरेक्टर, लघु उद्योग विकास बैंक, भारत सरकार, लखनऊ; श्री मुकेश मित्तल, पी०सी०एस०, राज्य सम्पत्ति अधिकारी, उ० प्र०, लखनऊ; श्री योगीन्द्र द्विवेदी, मुख्य सम्पादक, 'विश्व पत्रकार सदन' त्रैमासिक एवं स्तम्भ लेखक, दैनिक 'राष्ट्रीय सहारा', लखनऊ; श्री महेन्द्र कुमार शर्मा, फिजिक्स डिमान्स्ट्रेटर, श्रीभरत मन्दिर इण्टर कालेज, ऋषिकेश; और डॉ० अनूप बरनवाल, चिकित्सा अधिकारी, उ० प्र० सचिवालय, लखनऊ। लेखक इन सबका आभारी है।

ऋषीणामनुचरः
रूपचन्द्र 'दीपक'

चैत्र शुक्ला सप्तमी, २०५९;
शुक्रवार; १९ अप्रैल, २००२;
बी–७२, आर्य समाज शृंगारनगर,
लखनऊ (भारत)–२२६ ००५
दूरभाषः ०५२२–४५६०४७
ई–मेलः rcdeepak@yahoo.com

भूमिका

मनुष्य के जीवन में मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन जड़ है किन्तु सूक्ष्म और वेगवान् है। इसे वश में करना कठिन किन्तु आवश्यक भी है।

मन के बिना कोई कार्य नहीं होता। मन ही सङ्कल्प–विकल्प करता, मन ही निश्चय करता, मन ही स्वप्न देखता, मन ही भोग में लगकर विभिन्न स्वाद ढूँढता और मन ही योग में लगकर आत्मिक आनन्द खोजता है। हार और जीत, सुख और दुःख, मित्र और शत्रु तथा बन्ध और मोक्ष, सब मन से ही हैं। मन ही जीवन को भटकाता और मन ही इसे पार लगाता है। इसलिए मन की साधना करना उत्तम जीवन के लिये अनिवार्य है। **साधारण लोग कहते हैं कि यह कठिन है; महापुरुष कहते हैं कि यह आवश्यक है।**

भिन्न–भिन्न व्यक्ति एक परिस्थिति में भिन्न–भिन्न व्यवहार करते हैं। उनका व्यवहार उनके मन की स्थिति पर निर्भर करता है। जिन्होंने मन को नहीं साधा, वे सुख को घटाकर दुःख बढ़ा लेते हैं। जिन्होंने मन को साध लिया है, वे दुःख को घटाकर सुख बढ़ा लेते हैं। जिस प्रकार पर्वत पर चढ़ना कठिन है किन्तु चढ़ने के पश्चात् मनुष्य की स्थिति ऊँची हो जाती है, उसी प्रकार मन को साधना कठिन है किन्तु साधने के पश्चात् व्यक्तित्व ऊँचा हो जाता है। ऐसा साधक ही प्रगति और सन्तोष, सफलता और शान्ति तथा संघर्ष और आनन्द की एक साथ प्राप्ति कर सकता है।

यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के प्रथम छः मन्त्रों में मन का स्वरूप समझाया गया है। इन छः मन्त्रों में प्रत्येक के अन्त में आता है— **मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु** जिसका अर्थ है 'मेरा मन शिव सङ्कल्प करने वाला हो।' वैदिक जीवन पद्धति में रात्रि को सोते समय इन मन्त्रों पर मनन किया जाता है। **इससे मन एक ओर तो दिन में किये कर्मों के तनाव से मुक्त होता है और दूसरी ओर रात्रि में भटकाव से बचता है।** इस प्रकार निरन्तर मनन करने से मन पवित्र, विशाल, एकाग्र और शान्त

अध्याय–७	उत्थान के उपाय	५६
	सम्यक दिनचर्या	५६
	सन्तुलित आहार	५८
	रोग-निवारण	६३
	योगासन व्यायाम	६७
	पञ्च महायज्ञ	८०
	षट्क सम्पत्ति	८६
	पञ्च कोश विवेक	८७
	श्रवण चतुष्टय	८९
	भ्रान्ति–निवारण	९०
	अष्टाङ्ग योग	९६

	सप्त होता	३८
	यज्ञ का विस्तार	३९
	मोक्ष का सङ्कल्प	४०
अध्याय–५	वेद का अधिष्ठान	४२
	चार वेद तीन विद्यायें	४२
	व्यास ने वर्गीकरण नहीं किया	४३
	वेद मन में प्रतिष्ठित	४४
	रथ के अरों की भाँति	४४
	वेद ही मानवधर्म–ग्रन्थ	४५
	आस्तिक–नास्तिक	४७
	वेद का प्रचार	४७
अध्याय–६	स्वाभाविक सारथि	४९
	इन्द्रियाँ घोड़े हैं	४९
	रथी और सारथि	५०
	हृदय में वास	५२
	चिर युवा	५२
	मङ्गल–नियम	५३
	विचार कर्म का पिता	५३
	हृदय की उर्वरा भूमि	५४
	समर्पण और अन्तःप्रेरणा	५४

अध्याय--२	कर्म का साधन	१६
	प्रारब्ध और पुरुषार्थ	१६
	आत्मजयी लोग	२०
	आत्मानुशासन	२१
	यज्ञ और युद्ध	२३
	अनुपम अद्वितीय	२५
	धर्म सन्धान	२५
अध्याय–३	अन्तः ज्योति	२७
	ज्ञान का मध्यस्थ	२७
	स्मृति का धारक	२६
	अनुभूति और वासना	३०
	धैर्य और लज्जा	३१
	नाश रहित	३२
	इसके बिना कार्य नहीं	३२
	परमात्मा की कामना करें	३३
अध्याय–४	त्रिकाल–रमण	३५
	भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्	३५
	त्रिकालज्ञ कौन	३६
	वर्तमान में जीना	३७
	ईश्वर अमृत है	३८

विषय–सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
अध्याय–०	शयनकालीन मन्त्र	१
	पद्यानुवाद	१
	शरीर और मन का सम्बन्ध	२
	मन–बुद्धि–चित्त–अहङ्कार	४
	साधना का अभिप्राय	५
	जागरण मन्त्र	५
	दिनचर्या पूर्वसन्ध्या से	७
	सङ्कल्प	८
अध्याय–१	मन का स्वरूप	१२
	सर्वाधिक गतिमान्	१२
	एक समय में एक काम	१३
	जाग्रत अवस्था	१४
	सुषुप्ति और निद्रा	१५
	स्वप्न देखना	१५
	इन्द्रियों का प्रकाशक	१६
	मेरा अर्थात् सबका	१७
	धर्म का सङ्कल्प	१७

ओ३म्

यत्रं ब्रह्मविदो यान्तिं दीक्षया तपंसा सह।
अग्निर्मा तत्रं नयत्वग्निर्मेधा दंधातु मे।।

अथर्ववेद (काण्ड–१९, सूक्त–४३, मन्त्र–१)।

हे परमात्मा!
दीक्षा और तप के साथ
ब्रह्मज्ञानी सत्पुरुष
जिस मार्ग पर चलते आये हैं, कृपया
मुझे भी उत्तम मेधा देकर
उसी साधना के मार्ग पर चलाइए!

यह पुस्तक

अग्नि, मनु, दयानन्द आदि

ऋषियों को समर्पित है

जिनके अनुसरण से

मन का ज्ञान, संयम और

साधना पूर्ण होती है।